सोमसी
जुलाई ८८
हिमा ल कल कृति मी

आवरणः
छत्राढ़ी मंदिर, चम्बा में शक्ति देवी की मूर्ति – छायाः गगन स्टूडियो, शिमला
ऊपर का चित्रः
पराशर मंदिर की काष्ठ कला – छायाः बीरबल स्टूडियो

वर्ष: 14 अंक: 3 पूर्णांक: 55
जुलाई, 1988 : आषाढ़-श्रावण 1910 : शक : 2045 वि०

सोमसी

पर्वतीय कला, संस्कृति और साहित्य की
त्रैमासिक शोध पत्रिका

संम्पादक
डॉ० बंशीराम शर्मा

हिमाचल कला, संस्कृति और भाषा अकादमी
संगरमल भवन, क्लिफ एण्ड एस्टेट, शिमला-171 001

सम्पादक : डॉ0 बंशीराम शर्मा
सचिव,
हिमाचल कला, संस्कृति और भाषा अकादमी,
शिमला- 171001

त्रैमासिक : जनवरी, अप्रैल, जुलाई तथा अक्तूबर में प्रकाश्य

अंक : जुलाई, 1988

सम्पादन सहयोग : सरोज सांख्यायन

उपसम्पादक : जयन्ती चौहान

प्रूफ शोधन : निर्मल कौशल

पारदर्शियां : गगन स्टूडियो, शिमला, वीरबल शर्मा

आवरण : गगन स्टूडियो, शिमला

वार्षिक मूल्य—**12/-**
एक प्रति – **3/-**

प्राप्ति स्थान : हिमाचल कला, संस्कृति और भाषा अकादमी,
संगरमल भवन, क्लिफ एण्ड एस्टेट,
शिमला - 171001

विषय सूची

लेख	लेखक	पृष्ठ
कुलांत-पीठ -महात्म्यम्	चन्द्रशेखर "बेबस"	1
हिमालयी संस्कृति में जनजातीय भाषा एवं शिक्षा	एम0आर0ठाकुर	25
हिमाचली (पहाड़ी) का उद्भव और विकास	डॉ॰ वेदप्रकाश 'अग्नि'	38
किन्नर संस्कृति में बन्धुत्ववाची शब्दावली	प्रो0 डी0डी0 शर्मा -	51
चम्बा लोक-रंगमंच का रूप तथा संगठन	हरिप्रसाद "सुमन"	59
रोहड़ू क्षेत्र की विवाह प्रथाएं	जया चौहान	65
गुलेर की अक्षय बावड़ी- वत्सकूप	गिरिधर योगेश्वर	69
डॉ0 परमार की कला अभिरुचिः कुछ संस्मरण	किशोरी लाल वैद्य	74
कांगड़ा जनपद- मृत्यु गीतों के परिप्रेक्ष्य में	त्रिलोक मेहरा	78
मान्यता की कसौटी पर घुण्डा नाग	नरेन्द्र अरुण	81
मण्डलगढ़	कृष्ण चन्द काएथ	92
लोकसभा में पहाड़ी भाषा की गूंज		96
हिमाचल प्रदेश में केन्द्रीय विश्वविद्यालय की स्थापना और प्राचीन भाषाओं की प्रोन्नति का अनुरोध		97
गतिविधियां		99

सम्पादकीय

'सोमसी' पत्रिका के गत अंक पर्वतीय संस्कृति, कलाओं तथा भाषा से सम्बन्धित विषयों की सामग्री के लिए साहित्य-जगत में अपना स्थान बना चुके हैं। प्रदेश के बाहर के पाठकों ने भी इस पत्रिका के अंकों की सामग्री को सराहा है और धीरे-धीरे इसकी ग्राहक संख्या में वृद्धि होती जा रही है। पत्रिका के कलेवर तथा साज-सज्जा में सुधार होने के साथ 'सोमसी' अब देश में प्रकाशित कलात्मक एवं साहित्यिक पत्रिकाओं की श्रेणी में रखे जाने के योग्य हो गई है। हमारा यह प्रयत्न है कि इस पत्रिका का प्रत्येक अंक पूर्व अंक से अधिक आकर्षक,संग्रहणीय हो। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए विभिन्न विषयों पर दुर्लभ सामग्री प्राप्त करने का यत्न किया जाता है। प्रस्तुत अंक इसी परम्परा का एक महत्वपूर्ण अंक है। इसमें 'श्री चन्द्रशेखर बेबस' द्वारा प्रस्तुत की गई दुर्लभ पांडुलिपि 'कुलांत-पीठ-महात्म्यम्' को समग्र रूप से हिन्दी अनुवाद सहित प्रस्तुत किया जा रहा है। कुलान्त पीठकी पांडुलिपि वयोवृद्ध साहित्यकार बेबस ने बहुत पहले कहीं से प्राप्त की थी। इस पांडुलिपि का संदर्भ स्व० लाल चन्द प्रार्थी ने अपनी पुस्तक 'कुलूत देश की कहानी' में भी दिया है। हम इस दुर्लभ कृति के उपलब्ध करवाने के लिए लेखक के ऋणी रहेंगे। अकादमी के तकनीकी सहायक 'श्री कर्म सिंह' ने पांडुलिपि के हिन्दी अनुवाद के साथ-२ अटपटे संकेतों को यत्र-तत्र सुधारने का कार्य भी किया है। 'श्री एम. आर. ठाकुर' का लेख "हिमालयी संस्कृति में जनजातीय भाषा एवं शिक्षा" विद्वतापूर्ण लेख है। पहाड़ी भाषा पर दूसरा लेख 'हिमाचली (पहाड़ी) भाषा तथा लिपि' के सम्बन्ध में डॉ० वेद प्रकाश 'अग्नि' द्वारा लिखा गया है, जिसमें उन्होंने कतिपय नए तथ्यों की ओर संकेत किया है। 'श्री किशोरी लाल वैद्य' और 'श्री हरिप्रसाद सुमन,' 'कुमारी जया चौहान', 'प्रो. डी. डी. शर्मा,' 'श्री गिरिधर योगेश्वर' 'श्री कृष्ण चन्द्र कायथ' आदि सभी विद्वानों के लेख इस अंक को उपयोगी तथा संग्रहणीय रूप प्रदान करते हैं।

हमारे प्रयत्नों के बावजूद भी पत्रिका समय पर मुद्रित नहीं हो रही है। इसका कारण मुद्रकों का असहयोग ही रहा है, आशा है विलम्बित अंक शीघ्र ही पाठकों तक पहुंचाने में सफलता मिलेगी। पत्रिका के लिए स्तरीय रचनाओं की प्रबुद्ध पाठकों से अपेक्षा करना हमारा कर्त्तव्य सा बन गया है।

प्रस्तुत अंक नए मुद्रिक ने 'मुद्रण की नई प्रणाली' के अनुसार मुद्रित किया है। इस पर भी पाठकों की प्रतिक्रियाएं सादर आमंत्रित हैं।

डॉ० बंसी राम शर्मा

कुलांत-पीठ-परिचय

--चन्द्र शेखर बेबस

वक्तव्य :-

कुलांत पीठ नाम की यह पुस्तिका कुल्लू में कुछेक लोगों के पास संस्कृत पाण्डुलिपि के रूप में थी । इसका उल्लेख ६कैप्टन ए.एफ. हारकोर्ट सह0 आयुक्त कुल्लू ने 1871 में लन्दन से प्रकाशित अपनी ६दि डिस्ट्रिक्ट आफ कुल्लू लाहुल स्पिति में किया है कि मणिकर्ण के पुजारियों के पास कुलांत पीठ माहत्म्य नाम की पाण्डुलिपि पड़ी है परन्तु यह पुस्तक अधिक प्रचारित नहीं हो पायी, फिर 1940 में इन पक्तियों के लेखक को कुल्लू ज़िला के ही आनी नामक स्थान में स्व0 राजा रघुबीर सिंह जी के घरेलू पुस्तकालय में इसकी पाण्डुलिपि ,जिसे मैं ज्यों का त्यों उतार लाया था, लगभग इसी दौरान मणिकर्ण तीर्थ के हरिहर क्षेत्र के उद्धारक संत नारायण हरि जी ने मूल संस्कृत के श्लोकों के हिन्दी भाषा में अर्थ सहित "मणिकर्ण महात्म" नाम से एक पुस्तिका प्रकाशित की, इस पुस्तिका की पुष्पिका इस प्रकार है -"इति श्री ब्रह्माण्ड पुराणे ब्रह्म-नारद संवादे भूतनाथ क्षेत्र वर्णनो नाम प्रथमोऽध्यायः ।
अर्थात् ब्रह्माण्ड पुराण के ब्रह्म-नारद संवाद में पहला अध्याय समाप्त । ऐसे ही मणिकर्ण वर्णन का दूसरा और तीसरा अध्याय है । थोड़े बहुत पाठ- भेद के साथ वही तीन अध्याय "मणिकर्ण की यात्रा और महात्म्य" नाम से राम चन्द्र मन्दिर के कारदार पं0 रुद्रमणि रामकृष्ण ने भी प्रकाशित किया था परन्तु प्रथम अध्याय में जिस कुलांत पीठ का वर्णन है उस नाम की यह पुस्तिका अर्थात कुलांत पीठ महात्म्य जो सात अध्यायों की है, आपके हाथ में है ।

अपना विचार तभी से इसे प्रकाशित करने का था परन्तु पूर्व उद्धरण कर्ताओं ने इसके मूल पाठ को इतना बिगाड़ रखा है कि कई स्थानों पर तो पता ही नहीं चलता कि कहा क्या जा रहा है । दो पाण्डुलिपियों का पाठ भी ऐसा निकला तो इसी निश्चय पर पहुंचा कि इसके मूल श्लोकों को ज्यों का त्यों रखकर अर्थ अपनी मति और स्थिति या अटकलों के आधार या भावार्थ करके प्रकाशित कर दें और वैसा ही कर रहे हैं। जहां अटकल भी मौन हो गयी वहां स्थान खाली छोड़ रहे हैं । जहां अपनी भूल हो गयी होगी वह सब विद्वान पाठकों के सहारे छोड़ना पड़ रहा है ।

एक बात अपने मन में उठती थी कि विष्णु द्वारा सती के शवोच्छेद-जनित 51 या 53 पीठों में कुलांत नाम का कोई पीठ न होगा, कि कहीं यह कोई कल्पित पीठ न हो परन्तु अब अपनी एक आगम शास्त्र की "पंचमी स्तवराज" नाम की पुरानी पाण्डुलिपि के त्रिपुरा-सुन्दरी कवच में नीचे लिखित श्लोक मिले-

भैरवःअसितांगोयं कामरूपस्य पीठके ।
ब्रह्माणीसहितो पूर्वे द्वारे मां परिरक्षतु ।।
वैष्णवीसहितः क्रोधःकुलांते पीठ राजके ।
नैऋत्यां सर्वदा पातु भोगकामार्थ सिद्धये ॥
उन्मत्त भैरवो देवो वाराहीसहितो मम ।
चौहाराख्ये महापीठे पश्चिमे पातु सर्वदा ।।
कपाल भैरवो देवः इन्द्राणी सहितः प्रभुः।
जालंधरे महापीठे पातु माद्र्यसमीरणे ।।

§1§ अर्थात् काम-रूप पीठ के पूर्व द्वार में ब्रह्माणी शक्ति सहित असितांग नाम का भैरव मेरी रक्षा करे ।

§2§ कुलांत पीठ में नैऋत्य दिशा में वैष्णवी शक्ति सहित क्रोध भैरव भोग कामादि की सिद्धि के लिये रक्षा करें ।

§3§ चौहार नाम के महापीठ में पश्चिम में वाराही सहित उन्मत्त भैरव सदा रक्षा करे ।

§4§ जालन्धर महापीठ में वायव्य दिशा में इन्द्राणी शक्ति सहित कपाल भैरव मुझे बचावें ।

इससे प्रकट होता है कि काम रूप जालंधर के ही समान कुलांत और चौहार पीठ भी बराबरी के हैं। चौहार क्षेत्र कुल्लू §कुलांत§ की वर्तमान भौगोलिक और राजनैतिक पश्चिमी सीमा से सटा मण्डी जिला की जोगेन्दर नगर तहसील का पूर्वोत्तरी भाग है जिस में बरोट §बिजली विभाग का डैम§ आदि स्थान भी हैं। इसकी परिधि कितनी है यह खोज का विषय है ।

कुलांत पीठ के अस्तित्व की पुष्टि हो जाने पर इसकी स्थानीयता निश्चित करने के लिये ब्रह्मांड पुराण के "कुलांत पीठ" वर्णन नाम के सन्दर्भ में लिखा है—

जलंधरस्य चैशान्ये हेमकूटस्य दक्षिणे ।
दशयोजन विस्तीर्णं योजनत्रयविस्तृतम् ।।
उत्तरे व्यास तीर्थश्च दक्षिणे बंधुको गिरिः ।
विपाशा पश्चिमे भागे पूर्वे पशुपतिःस्वयम् ।।

अर्थात् जलंधर के पूर्वोत्तर मे हेमकूट §स्पिति के पैदल रास्ते का हामटा§ पर्वत दस योजन लम्बा और तीन योजन चौड़ा है, जिसके पूर्व में महादेव कदाचित् बिजली महादेव, पश्चिम में विपाशा नदी, उत्तर में व्यास तीर्थ और दक्षिण में बंधुक पर्वत है । इस उक्ति के अनुसार व्यास तीर्थ से वशिष्ठ जगत्सुख नगर का समग्ररूप और सिराज कुलांत-पीठ में आते हैं ।

-ढालपुर मैदान, कुल्लू हि॰प्र॰

कुलान्त-पीठ-महात्म्यम्

प्रथम अध्यायः

नारायणं नमस्कृत्य,नरं चैव नरोत्तमम् ।
देवीं सरस्वतीं व्यासं ततो जयमुदीरयेत ।।1।।

प्रथम श्री परमेश्वर, भगवान विष्णु, श्री अर्जुन तथा देवी सरस्वती, महामुनि व्यास को नमस्कार करके पुराण का बखान करते हैं ।

तत्रैव गंगा यमुना त्रिवेणी, गोदावरी सिन्धुः सरस्वती च ।
सर्वाणि तीर्थानि वसन्ति तत्र, यत्राच्युतोदार-कथाप्रसंगः ।2।

गगां,यमुना, गोदावरी, सिंधु, सरस्वती और प्रयाग आदि सारे तीर्थ वहां निवास करते हैं जहां भगवान विष्णु की श्रेष्ठ कथा होती है ।

अथातः संप्रवक्ष्यामि कुलांतं पीठमुत्तमम् ।
यत्पीठं समाश्रित्य,मुनयो सिद्धिमागताः ।। ।3।

अब मैं पीठों में श्रेष्ठ कुलांत पीठ का वर्णन करता हूं,जिस पीठ का आसरा लेकर मुनि लोग सिद्दि को प्राप्त हुये ।

अर्जुनस्य प्रसादाय,दाधार शवरं वपुः ।
विपाशा च नदी यत्र , नदी च यत्र पार्वती ।। ।4।

अर्जुन को प्रसन्न करने के लिये शवर ।जंगली जाति। का शरीर धारण किया ।शिव जी ने । जहां कि विपाशा और पार्वती नदियां हैं ।

यत्र व्यासेन संतप्तं वसिष्ठेन च धीमता ।
शवरी पार्वती देवी तत्रैव चाभवत्पुरा ।। ।5।

जहां मुनि व्यास और बुद्दिमान् वसिष्ठ ने तप किया वहीं पूर्व काल में शवरी देवी प्रकट हुई थी ।

यज्ञोपलक्षितं सर्वं सर्वसिद्दिप्रदायकम् ।
तमाश्रित्य च तिष्ठन्ति देवाः देव्यश्च नित्यशः ।।।6।

सम्पूर्ण यज्ञों का लक्ष्य स्वरूप और सारी सिद्दियों का दाता जिसका आश्रय लेकर देव और देवियां सदा यहां रहते हैं ।

तत्र प्रेताः सकूष्माण्डा योगिन्यश्च सहस्रशः ।
महत् सत्वं हि तत्पीठं सुरासुरसुदुर्लभम् ।।।7।

जहां प्रेतों सहित कुष्माण्ड तथा हजारों योगिनियां रहती हैं, सच-मुच वह पीठ सत्यवान् देवों व दानवों के लिय दुर्लभ है ।

कुलान्तमिति विख्यातं अन्ते मोक्षप्रदायकम् ।
यच्चोक्तं मया पुत्र,कुलांतपीठ राजकम् ।।।8।।

कुलांत नाम से प्रसिद्द यह पीठ अन्त में मोक्षदायक है । हे पुत्र। इसीलिये मैंने

इसे पीठों का राजा कुलांत पीठ कहा है ।

नारदोवाच :- कुलांतपीठमाख्यातं त्वयोक्तं च पितामह ।
कस्मिन् देशे समीपे च किं प्रमाणं च तत्पुनः ।। §9§

नारद बोले:- हे पितामह । आपने जो कुलांत पीठ नाम से प्रसिद्ध कहा है यह कहां, किसके पास और कितने विस्तार का है ?

तत्र को देव देवी च किं पुण्यं तत्र चोत्तमम् ।
कीदृशं हि महास्थानं का नदी तत्र चोत्तमा ।। §10§

वहां कौन से देवी देवता हैं, कैसा स्थान है, कौन वहां नदी है और क्या वहां का महात्म्य है ?

किमर्थं च महादेवो दधार शबरं वपुम् ।
अर्जुनस्य किमर्थं वैः प्रसादमकरोच्छिवः ।।§11§

किस कारण से शिव जी ने जंगली आदमी का रूप धारण किया और अर्जुन को किस लिये प्रसन्न करना पड़ा ?

किमर्थं तत्र पीठे च शबरीरूपपार्वती ।
तत्सर्वं श्रोतुमिच्छामि विस्तरेण पितामह ।। §12§

उस पीठ में पार्वती जंगली भीलनी के रूप में क्यों है ? हे पितामह । यह मैं विस्तार पूर्वक सुनना चाहता हूं ।

ब्रह्मोवाचः- शृणुष्वावहितो पुत्र कुलांतं पीठमुत्तमम् ।
जलंधरस्य चेशान्ये हेमकूटस्य दक्षिणे ।। §13§

ब्रह्मा बोलेः- हे पुत्र ! उत्तम कुलांत पीठ का हाल सावधान होकर सुनो । जलंधर के ईशान दिशा में और हेमकूट पर्वत के दक्षिण की ओर–

दशयोजन विस्तीर्णं योजनत्रयविस्तृतम् ।
उत्तरे व्यास तीर्थं च दक्षिणे बधुंको गिरिः ।। §14§

दस योजन तक फैला लम्बा और तीन योजन चौड़ा क्षेत्र है, जिसके उत्तर में व्यास तीर्थ और दक्षिण में बंधुक पर्वत है ।

विपाशा-पश्चिमे भागे पूर्वे पशुपतिः स्वयम् ।
अधिष्ठातृ च शबरी, इन्द्रकीलं च पर्वतम् ।। §15§

जिसके पश्चिम में विपाशा §व्यास§ नदी और पूर्व में स्वयं पशुपति §शिव§ तथा क्षेत्र की अध्यक्षा शबरी देवी और इन्द्रकील पर्वत हैं ।

देवी सा शबरी रूपा सर्वसिद्धिप्रदायिनी ।
तत्र जप्त्वा तथा हुत्वा, देवीलोकमवाप्नुयात् ।। §16§

भीलनी रूप वह देवी सारी सिद्धियां देने वाली है, वहां जप और हवन करने से देवीलोक प्राप्त होता है ।

महादेवेन तत्रैव शवरत्वं धृतं पुरा ।
देव्या सह विहारार्थी लोकानाभयाय च ।। §17§

महादेव ने इसी स्थान पर पिछले काल में शबरी रूप धारण किया था देवी के साथ विहार और जनता को निर्भय करने के लिए ।

पृथिव्याः भयनाशाय अर्जुनस्याभयाय च
अर्जुनस्य परीक्षार्थी संग्राममकरोच्छिव : ।। §18§

पृथ्वी और अर्जुन का भय नष्ट करने के निमित्त तथा अर्जुन की परीक्षा के लिए शिव जी ने संग्राम किया ।

ददौ तस्मै सुशस्त्राणि, वरं चाभयमेव च ।
एतदर्थी महादेवोःदाधार शवंरा वपुम् ।। §19§

उस §अर्जुन§ के लिए वर और अभय दान तथा उच्च कोटि के शस्त्र दिए इस कारण से महादेव ने भील का रूप धारण किया था ।

तत्रैव त्रिपुरा देवी चामुण्डा चापराजिता ।
भूतनाथो शिवस्तत्र वंधुमारस्य चोत्तरे ।। §20§

वहां पर त्रिपुरा-चामुण्डा तथा अपराजिता देवियां और वहीं बंधुमार §पर्वत§ के उत्तर में भूतनाथ शिव हैं ।

पार्वती च नदी तत्र, विपाशा स्वर्गदायिनी ।
एतयोर्मध्यतो भाति शंभुः भूपतिः स्वयम् ।।§21§

वहीं स्वर्ग देने वाली विपाशा और पार्वती नदियां हैं। इनके मध्यम में भूतनाथ शंभु स्वयं विराजते हैं ।

तत्र दर्शनमात्रेण निष्पापो जायते नरः ।
इह लोके च ऐश्वर्यं परलोके शिवं भवेत् ।। §22§

वहां दर्शनमात्र से मनुष्य पाप रहित हो जाता है और इस लोक में ऐश्वर्य व परलोक में मोक्ष पाता है ।

वैद्यनाथे प्राणोत्सर्गे गंगायां मरणेन च ।
तत्समंफलमाप्नोति भूतनाथस्य सन्निधौ ।। §23§

वैद्यनाथ और गंगा में मरने से जो फल मिलता है वही भूतनाथ के पास से मिलता है ।

इति ब्रहाण्डपुराणे ब्रह्म-नारद संवादे क्षेत्रवर्णनो नाम प्रथमोऽध्यायः। ब्रहमांड पुराण के ब्रह्म नारद संवाद का क्षेत्रवर्णन नाम का 'पहला अध्याय' समाप्त हुआ ।।

द्वितीय अध्यायः

अथ पुत्र पुनः वक्ष्ये पार्वत्या सह शंकरः ।
विहारार्थी कृतं स्थानं, पार्वत्यास्तु तटे शुभे ।।§1।§

अब पुत्र आगे बताता हूं पार्वती सहित शंकर ने पार्वती नदी के किनारे विहार करने के लिए स्थान बनाया ।

मणिकर्णीति विख्यातं शीतोष्णजलसंयुतम् ।
तत्र गत्वा कृता क्रीड़ा, शिवेन सुखरूपिणी ।। §2§

जो स्थान तप्त और शीत जल वाला मणिकर्ण नाम से प्रसिद्ध है, वहां जाकर शिव ने सुखमयी क्रीड़ा की थी ।

शीतोष्णजलसयुक्तं नानापुष्पोपशोभितम् ।
नाना रूप समाकीर्णं, छाया- षट्पदसेवितम् ।। §3§

गरम और ठंडे जल वाला अनेक प्रकार के फूलों तथा भंवरों से युक्त छायादार वह स्थान था ।

षड्वर्ष सहस्राणि स पंचाशत्वर्षाणि च ।
न तृप्यति महादेवो पार्वत्या सह क्रीड़या ।। §4§

जहां छह हजार पचास वर्षो तक पार्वती सहित क्रीड़ा करने पर भी महादेव तृप्त नहीं हुए और -

क्रीड़ासक्त भवान्यास्तु:मणिर्भ्रष्टो महीतले ।
एवं क्षेत्रं महापुण्यं सर्व पापप्रणाशनम् ।। §5§

खेलते-खेलते भवानी के कान का रत्न गुम हो गया, इसी से इस क्षेत्र को पुण्य देने और सारे पापों का नाशक बनने का संयोग हुआ ।

अपुत्राणां पुत्रदं प्रोक्तं निर्धनानां धनावहम् ।
ऊर्ध्वधारे नरः स्नात्वा पार्वत्याश्चैव संगमे ।। §6§

यह तीर्थ पुत्रहीनों को पुत्र और धनहीनों को धन देता है, ऊर्ध्वधारा और पार्वती नदी के संगम में मनुष्य स्नान करे ।

आदौ स्नात्वा उभे तीर्थे पश्चात् पूजां समाचरेत् ।
ब्राह्मणाय च गां दद्यात हिरण्यं रजतं तथा । §7§

पहले दोनों तीर्थों में स्नान करके फिर पूजा करे और ब्राह्मण को गाय, सोना तथा चांदी का दान करे ।

मोदमानो हविष्याशी रात्रौ जागरणं चरेत् ।
ईदृशं मणिमयं क्षेत्रं त्वयि प्रोक्तं मयानघ ।। §8§

हे पाप रहित नारद ! प्रसन्नतापूर्वक सात्विक भोजन करे और रात को जागरण करे ऐसा यह मणियों वाला तीर्थ मैंने तुम्हें बताया ।

अर्धनारीश्वरं क्षेत्रं सर्वसिद्धिप्रदायकम् ।। ई9ई
ईमूलपांडुलिपि में एक पंक्ति नहीं है ई

ऐसा यह अर्धनारीश्वर क्षेत्र समस्त सिद्धियों को देने वाला है ।

इति मणिकर्ण वर्णन नाम द्वितीयोऽध्यायः समाप्तः ।
यह मणिकर्ण वर्णन नाम का 'दूसरा अध्याय' समाप्त हुआ ।

तृतीय अध्यायः

नारदोवाचः- देव देव मयि प्रीत्या विस्तरेण प्रकाशय ।
मणिकर्णस्य महात्म्यं भवान्या तत्र किं कृतम् ।। ई1ई

नारद ने कहा-हे देवों के देव ! मुझे स्नेहपूर्वक मणिकर्ण का महात्म्य विस्तार से बताइए कि भवानी ने वहां क्या किया ?

क्षेत्रस्य तस्य का सीमा, पार्वत्या सः कदा मणिः ।
स्मृतो लब्धोपधाने किं प्रथमं चात्र कीदृशम् ।। ई2ई

उस क्षेत्र की सीमा तथा पूर्व काल में स्थिति क्या थी, पार्वती ने यह रत्न कब खोया, याद किया और कैसे प्राप्त किया था ?

ब्रह्मोवाच :- हिमाचलस्य पादोयं हरींद्रो नाम वैः गिरिः ।
तत्रावास सरोवती शीतोष्णजलसंयुतम् ।।ई3ई

हिमाचल का चरणस्वरूप हरिन्द्र नाम का पर्वत है वहां ठंडे और गर्म पानी के कुंड और निवास स्थान हैं ।

क्रीडा स्थानं भवान्या च तत्रास्यांगलितो मणिः ।
कर्णभूषण भूतस्थो तस्मादाराधितः शिवः॥। ई4ई

कान का आभूषण भूतस्था ईभूमिगतई हो गया था, अपने ही विहार-स्थल में गिरा था इसलिए पार्वती ने शिव का मन से स्मरण किया था ।

चिरेण तं मणिं स्मृत्वा भवान्यामिहसोभवः ।
अन्वेषणाय भूतानां गणानामादिदेश ह ॥ई5ई

तत्काल भवानी की मणि का स्मरण करके शिव ने इस मणि की खोज के लिए भूतों और गणों को आदेश दिया ।

—

नालभन् यदातन्तु मणिं भूतगणाः द्विजाः ।
अकरोत् सर्वशून्यं भवं भगवान् शंकरस्तदा ।। §6§

हे नारद! खोजने पर भी जब भूत मणि को न पा सके तो शिव ने क्रुद्ध होकर सर्वत्र शून्यता व्याप्त कर दी ।

नेत्राग्निना रागस्य मणिं तत्र सदा शिव ।
योगिनी कलयं नीतं शेषमिति विवोधत ।। §7§

जब सदाशिव मणि के लिए नेत्राग्नि का प्रयोग करने लगे तो योगिनियों ने जाकर शेष को बताया ।

ततः क्रुद्धश्च शेषाय भगवान् भूतनायकः ।
ज्ञात्वा शेषःशिवं क्रुद्धं भीतस्पीतः मणिर्मणिः ।। §8§

शिव के क्रुद्ध होने का समाचार सुनकर शेष डर के मारे मणि-मणि पुकारने लगा ।

विभवोर्ध्वतत्यासीदूर्ध्वधारं सुपावनम् ।
अद्भुतं तत्समालोक्य हर नेत्रं स्वयं कृतम् ।। §9§

तब पृथ्वी से फूट कर पवित्र जल की धार ऊपर को उठी, इस चमत्कार को देखकर महादेव ने स्वयं नेत्र को रोक लिया ।

महादेवोवाचः- न जगाम मया काश्यां विष्णुधर्मार्थी निंदितम् ।
तत्र विष्णु भवासीनो मया स वृषभध्वजः ।। §10§

महादेव बोले कि अब मैं वैष्णवधर्म की निंदा करने वाली काशी में नहीं जाऊंगा और उमा सहित वृषभध्वज §महादेव§ वहीं पर विष्णु की पूजा करने लगे ।

लोकानुकम्पयाऽवदत् चिकीर्षुःक्षेत्रमुत्तमम् ।
देवदेव महाविष्णुः शृणु विज्ञापितो मया ।। §11§

और संसार पर कृपा करते हुए बोले हे देवों के देव विष्णु! मैंने इस क्षेत्र को उत्तम क्षेत्र घोषित कर दिया ।

महादेव देवयोगेन भवान्याः गलितो मणिः ।
शेषेण स मया त्यक्ता अभवत् परममद्भुतम् ।। §12§

बड़े ही संयोग से भवानी का मणि गिर जाना और शेष का उसे हमें लौटाना यह सब परम चमत्कार सा हुआ है ।

त्वयानुग्रहमाणस्य, क्षेत्रं च पुरुषोत्तमम् ।
समेतत् महादेव हृदजलं हृदभवत् पुरा ।। §13§

हे पुरुषोत्तम ! आपके अनुग्रह से यह क्षेत्र मेरा हुआ । हे महादेव । पूर्व काल में ये मेरे हृदय का जल था ।

कलौ अत्र भविष्यति मम स्थानस्य पूजनम् ।
अत्र मां पूजयेत् यस्तु स मुक्तो नात्र संशयः ।। §।4§

कलियुग में यह मेरे पूजा स्थानों में से होगा । यहां जो मेरी पूजा करेगा वह मोक्ष को प्राप्त हुआ ही जानों इसमें संदेह नहीं ।

अत्र केचन ये जनाः प्राणान् त्यजन्ति वैः पुनः ।
मुक्ता एव भविष्यन्ति मामनर्च्यापि निश्चितम् ।। §।5§

यहां जो लोग प्राण त्याग करते हैं, वे मुझे पूजे बिना भी निश्चय ही मुक्त हो जाते हैं ।

अकृत्वापि जपं मम कलौ पूजा-फलं लभेत् ।
सीमाभूत प्रविष्टं तु, विष्णुकुंडमनामयम् ।। §।6§

और यहां मुझे पूजे बिना भी कलियुग में पूजा का फल मिले । इसी क्षेत्र की सीमा के अन्दर जाने पर स्वास्थ्यवर्धक विष्णु कुंड है ।

पश्चिमस्यां दिशि स्थितं महोष्णजलसयुंतम् ।
महापुण्यं फलं नृणां सर्वलोकैपावनम् ।। §।7§

पश्चिम दिशा में स्थित यह कुंड बहुत तप्त जल वाला है । यह संसार का अति पवित्र तीर्थ मानवों को महापुण्य के फल का देने वाला है ।

यस्मिन् स्नाने कृते जन्तुःविष्णुलोके महीयते ।
दक्षिणस्यां च सीमायां ब्रह्मणा तु कृता पुरा ।। §।8§

जिस में स्नान करने से जीव विष्णु लोक को प्राप्त करता है, दक्षिण दिशा की सीमा पर ब्रह्म ने पूर्व काल में नदी बनाई है ।

ब्रह्ममनालीति किख्याता नदी पापप्रणाशिनी ।
यस्या स्नानेन पूज्यन्ते महासंतापिताःजनाः ।।§।9§

ब्रह्म-नाली नाम से प्रसिद्ध वह समस्त पापों की नाशक है जिसमें स्नान करने से महापापी लोग भी पूज्यता को प्राप्त करते हैं ।

मासं सप्तदिनं वापि त्रयहं वा स्नानमाचरेत् ।
विष्णुकुंडे नरो मुक्तिमपि जीवसमाप्नुयात् ।। §20§

जो महीना, सात दिन या तीन दिन ही विष्णु कुंड में स्नान करे तो जीव मोक्ष भी पा सकता है ।

मृतो मुक्तो न संदेहो यत्र कुत्रापि नारद ।
उत्तरे च सुसीमायां हरींद्रोनाम वैः गिरिः ।।§2।§

हे नारद ! जीव जहां कहीं भी मरे§विष्णु कुंड में नहाने वाला§ निस्संदेह मुक्ति पाता है । उत्तर की सीमा पर हरींद्रनाम का पर्वत है ।

यद्दर्शने पापानि क्षीयंते बहुलान्यपि ।
दक्षिणे पार्वती चैव नदी लोकप्रसादिनी ।। §22§

जिस के दर्शन से ढेर सारे पाप भी नष्ट हो जाते हैं दक्षिण में संसार को प्रसन्न करने वाली पार्वती नदी बहती है ।

यत्र स्नात्वा च पीत्वा च नरः स्वर्गमवाप्नुयात् ।
मणिकर्णमिदं क्षेत्रं मोक्ष-संसाधनं पुरा ।। §23§

जहां स्नान और पान करने से मनुष्य स्वर्ग पाता है मणिकर्ण नाम का यह क्षेत्र पूर्व काल में मोक्ष का साधन घोषित किया गया है ।

वाराणस्यां विशेषेण क्षेत्रमेतन्न संशयः ।
पीठेषु सुमहत् श्रेष्ठं कुलांतं पीठमुत्तमम् ।।§24§

विशेषतया काशी में मणिकर्ण क्षेत्र का बहुत महत्व है और समस्त पीठों में उत्तम कुलांत पीठ महान एवं श्रेष्ठ है ।

तत्रापि मणिकर्णं च विष्णु कुंडं तु तत्र च ।
एवं तेन समादिष्टो शभुः हंसद्विजोत्तमः ।। §25§

कुलांत पीठ में भी मणिकर्ण और वहां भी विष्णु कुंड श्रेष्ठ है। इस प्रकार हे द्विजोत्तम! शिव ने मुझे यह आदेश दिया है ।

परमानन्द संयुक्तो यत्र क्षेत्रं प्रतिष्ठति ।
सत्यं सत्यं पुनः सत्यं मया सम्यक् निरूपितम् ।।§26§

ऐसा परम आनन्ददायक क्षेत्र जहां है वह मैंने तुम्हें बार-बार सत्य बता दिया।

ऊर्ध्वधारादिषु कुंडान्नाधिकं भुवि पावनम् ।
ऊर्ध्वधारमिदं वारिकणमात्रेण देहिनाम् ।। §27§

यहां के ऊर्ध्व धरा§फव्वारा§ कुंड से अधिक पवित्र पृथ्वी पर कोई कुंड नहीं है इस ऊर्ध्वधारा के जल की बूंद मात्र देह धारियों के····

हरति पातकान् पंचान् नात्र कार्या विचारणा ।
रुद्रनेत्रप्रभावेण संयुक्तं पुत्रकः इदम् ।। §28§

पांचों पातकों को हरती है इसमें संदेह नहीं करना । हे पुत्र! यह रुद्र के नेत्र के प्रभाव से युक्त है ।

सुकथा च जलं शिष्टं बहुशः कथ्यते त्वया ।
§ मूल पाण्डुलिपि में एक पंक्ति नहीं है ।। §29§

यह शुभ कथा और जल का महत्व तुमको सुनाया ।

तप्तोदकेन पक्वान्नं भक्षयेच्च नरोभुवि ।
स पाति परमं धाम विष्णुलोकमवाप्नुयात् ।। §30§

इस गरम पानी में पका अन्न पृथ्वी पर जो मनुष्य खाता है, वह विष्णु लोक पाने के पश्चात् परम धाम वैकुंठ को प्राप्त करता है ।

इति श्री ब्रह्माण्ड पुराणे ब्रह्मा-नारद संवादे मणिकर्ण तीर्थ वर्णानोनाम तृतीयोऽध्यायः ।

यह ब्रह्माड पुराण में ब्रह्मा और नारद के संवाद का मणिकर्ण सम्बन्धी तीसरा अध्याय समाप्त हुआ ।

रा

चतुर्थ अध्यायः

ब्रह्मोवाचः- अथाहं संप्रवक्ष्यामि सर्वेषां स्थानमुत्तमम् ।
इन्द्र कीलकमाश्रित्य स्थिता च भुवनेश्वरी ।। §1§

ब्रह्मा कहते हैं :- अब मैं सब स्थानों में श्रेष्ठ स्थान का वर्णन करता हूँ जहां इन्द्र कील का आश्रय लेकर भुवनेश्वरी देवी ठहरी हैं ।

नारदोवाचः- कथं जातं गिरेरस्य नामेदमिन्द्रकीलकम् ।
एतत् कथय सर्वं यदि कृपास्ति ते मयि !। §2§

नारद बोलेः- हे पितामह ! इस पर्वत का नाम इन्द्र कील कैसे पड़ा? यह सब वृतान्त मुझे बताइए यदि मुझ पर आपकी कृपा है ।

ब्रह्मो वाचः- शृणु पुत्र प्रवक्ष्यामि विस्तरेण तपोधन ।
इन्द्र कीलक नामेदं यथा जातं गिरेस्य च ।। §3§

ब्रह्मा बोलेः- हे तपोधन पुत्र ! सुनो विस्तार से बतलाता हूँ कि इस पर्वत का नाम इन्द्र कील कैसे पड़ा ?

पुरा च पर्वताःसर्वे सपक्षाः पक्षगामिनः ।
यत्र तत्रैव गच्छन्ति, पतन्ति इह भूतले ।। §4§

पूर्व काल में यह सारे पर्वत पखों वाले थे। इन पखों से वे उड़ते थे और जहां कहीं जाते तथा पृथ्वी पर गिरते-पड़ते रहते थे ।

चूर्णिता नगराः ग्रामाःगोष्ठा चत्वरवासिनः ।
एवं ज्ञात्वा सुरेन्द्रेण वज्रं विज्ञापितं तदा ।। §5§

उनके बैठने से नगर, ग्राम, गोचर, भूमि और धर्मशालाएं आदि के निवासी चूर-चूर होने लगे यह देखकर देवराज इन्द्र ने अपने वज्र को आज्ञा दी ।

अत्रागच्छ महाव्रज देवदानवसूदन ।
भक्तानामभयं कर्त्ता देवयज्ञविवर्धनः ।। §6§

।।

सोमसी

इन्द्रः-हे वज्र! देवता और असुरों का दमन और भक्तों को अभय-दान तथा देवताओं और यज्ञों की अभिवृद्धि करने इधर आओ ।

पर्वतैः चूर्णिता लोका पृथिव्यांच विशेषतः ।
तत्र गच्छतु भद्रं वो सर्वेषां क्षेममाप्नुयात् ।। ‡7‡

देखो पर्वतों ने लोकों को विशेषतः पृथ्वी पर पीस डाला है । तुम वहां जाओ और सबका कल्याण करो तुम्हारा भला होगा ।

इत्याज्ञाप्य देवेन्द्रः वज्रं त्रिभुवनेश्वरः ।
आजगाम तदा क्रोशं त्रिदशैःसह पुरंदरः ।। ‡8‡

त्रिभुवन पति देवराज इन्द्र वज्र को ऐसी आज्ञा देकर देवताओं सहित बड़े कुपित हुए ।

वज्रःगत्वा पृथिव्यां च गिरिपक्षानताडयत् ।
सर्वेषां निहते पक्षे, स्व स्थाने च उपाविशत् ।। ‡9‡

वज्र ने पृथ्वी पर जाकर पहाड़ों के पखों को काटा, सब के पखों को काट चुकने पर अपने स्थान पर आ बैठा ।

शर्व्याः यो गिरिस्तस्य, पक्षत्वं स्थितं पुरा ।
देव्यामनुभावेन व्रज तन्न मया गतम् ।। ‡10‡

परन्तु शबरी देवी वाले पर्वत के पंख पूर्ववत् बने रहे। शबरी देवी के प्रभाव से वज्र उन्हें काटने मे असमर्थ रहा ।

देवराज ततः श्रुत्वा विस्मयं परमं ययौ ।
देव्या महात्म्यं विज्ञाय स्वं शस्त्रं च निवारयत् ।। ‡11‡

ऐसा सुनकर इन्द्र बहुत विस्मित हुए और फिर देवी शबरी का महात्म्य जानकर अपने शस्त्र वज्र को रोक दिया ।

ऐरावत समारूढ़ः देवदेवः पुरंदरः ।
तत्राजगाम शर्वरीरूपा पार्वती स्थिता ।। ‡12‡

देवताओं के देव, इन्द्र ऐरावत पर चढ़कर वहां आ गए जहां शबरी के रूप में पार्वती स्थित थी ।

प्रणम्य शिरसा पादौ बद्धांजलिरभाषत ।
प्रसीद देवी मां भक्त्या, दैत्यदानवनिषूदिनी ।। ‡13‡

अपने सिर से देवी के चरणों का वन्दन कर हाथ जोड़कर बोले– हे दैत्य और दानवों को मारने वाली देवी! मेरी भक्ति से प्रसन्न हो जाइए ।

देवानां सिद्धिदा देवी, सर्गस्थित्यन्तकारिणी ।
त्वमभयरूपा देवी, सर्वरूपा च शर्वरी । ॥4॥

हे सृष्टि की रचना रक्षा, और अन्त करने वाली देवों को सिद्धि दायिनी देवी, आप अभय रूपा और सर्व रूपा शबरी हो ।

देवीविशालरूपा त्वं विष्णुरूपा च संस्तुते ।
सर्वार्थसिद्धिदादेवी महाभया विनाशिनी ।। ॥5॥

आप विशाल रूपा तथा विष्णु-रूप में मानी गयीं महाभय विनाशिनी और सर्वार्थ सिद्ध करने वाली देवी हैं ।

प्रसीद देवी देवेशी, भद्रकाली नमोस्तुते ।
एवं स्तुता च सा देवी देवराजेन धीमता ।। ॥6॥

हे देवों की देवी भद्रकाली प्रसन्न हो जाईए आप को नमस्कार है। इस प्रकार वह देवी बुद्धिमान देवराज द्वारा सराही गई ।

सन्तुष्टा शवरी देवीदं वचनमब्रवीत् ।
....।। ॥7॥

संतुष्ट होकर देवी ऐसे वचन बोली:-

देव्युवाच:- त्वयि प्रसन्नास्मि देवेंद्र विनयेन च सुव्रत ।
तवस्तोत्रेण तुष्टास्मि किं ते वरमभीप्सितम् ।। ॥8॥

देवी कहती हैं :- हे देवेन्द्र ! मैं प्रसन्न हुई हूँ । हे सुव्रत ! तुम्हारे स्तुतिगान से संतुष्ट हूँ । कहो तुम को किस वर की अभिलाषा है ।

इन्द्रउवाच:- पर्वतानां च सर्वेषा पक्षच्छेदः मया कृतम् ।
भवत्याः पर्वता नैव पक्षछेदं निराकृतेः ॥ ॥9॥

इन्द्र ने कहा :- देवी मैंने सभी पर्वतों के पंख काट डाले, परन्तु आपके पर्वत के पंख काटने में सफलता नहीं मिली ।

अस्य पक्षे त्वया यत्नः कर्तव्यः मदनुग्रहात् ।
अस्य पक्षे स्थिते चैव प्रजानां च महद् भयम् ।। ॥20॥

इस पर्वत के पखों के बने रहने से प्रजा को बड़ा भय बना रहेगा, इसलिए मेरे आग्रह को स्वीकार करके पखों का उपाय कीजिए ।

देव्युवाच :- अस्य पक्षस्य त्वयायतः कर्तव्योहि पुरंदर ।
प्रजानां च यथा पीड़ा च न जायेत् कदाचन ।। ॥21॥

देवी ने कहा हे इन्द्र! इस पर्वत के पखों का इलाज आप करो, जिससे प्रजाजनों

को कभी किसी प्रकार का कष्ट न हो ।

उभयोः सन्निवेश्यं च यथा भद्रं तथा कुरु ।
इन्द्र कीलक रूपत्वं मदनुग्रहकाम्यया ।। {22}

इन्द्र ने कहाः- हे देवी। आप मुझ पर कृपा करें इस गिरि को इन्द्रकील का रूप दे दोनों का सामीप्य और कल्याण जैसे हो सकता है, वैसा करो ।

गंध पुष्णोपहारेण अर्चयन्ति हि मानवाः
तेषां सर्वार्थी सिदि्त्वं त्वं दास्यसि च शोभने ।। {23}

जो लोग चन्दन पुष्प आदि उपचारों से यहां पूजन करेंगे वे सब प्रकार की सिद्धियों को प्राप्त करेंगे । हे शोभने । उनको आप सब सिद्धियां देंगी ।

देव्युवाचः- यथोक्त च त्वया भद्र नान्यत्कार्यं च शोभनं ।
यथाज्ञप्तं च तत्सर्वं करिष्यामि न संशयः ।। {24}

देवीः- हे भद्र। तुम ने जो कुछ कहा वही करूंगीः निस्सदेह इससे भिन्न नहीं करूंगी ।

तव कीलक रूपत्वं अस्मिन् पर्वत सन्निधौ ।
इन्द्र् कीलक नामेदं भूचरस्य भविष्यति ।। {25}

तुम्हारे नाम में कीलक विशेषण लगाकर इस पर्वत का इन्द्रकीलक नाम होगा।

ओतिष्ठन्महेन्द्रस्य, प्रणम्य च मुहुर्मुहुः ।
ऐरावत समारूढ़े प्रययौ तत्र विष्टपम् ।। {26}

तब इन्द्र, देवी को बार-बार प्रणाम करके उठा और ऐरावत {हाथी} पर चढ़कर स्वर्ग लोक को चला गया ।

इंद्रे स्वर्गे गते चैव शवरी तत्र संस्थिता ।
इन्द्र कीलक रूपोऽसौ तस्मिन् भूधर सन्निधौ ।। {27}

इन्द्र के स्वर्ग लोक को चले जाने पर देवी इन्द्र-कील का रूप दिये गये उस पर्वत के पास ही ठहर गई ।

कीलितो शैल राजोऽय इन्द्रेण महात्मना ।
इन्द्र कीलक विख्यातं त्रिषु लोकेषु विश्रुतम् ।। {28}

क्योंकि इस पर्वत राज को इन्द्र ने कीलित किया इसलिए तीनों लोकों में यह इन्द्र-कील नाम से विख्यात हुआ ।

तत्रस्था शवरी देवी स्वर्गमोक्षप्रदायिनी ।
सर्वेषां सिदि्दात्री च सर्वकार्येषु सर्वदा ।। {29}

सब लोगों को सब कामों में सिद्धि तथा स्वर्ग व मोक्ष देने वाली शबरी देवी वहीं पर विराजमान है ।

इति श्री ब्रह्माण्ड पुराणे ब्रह्मनारद संवादे शबरी महात्म्यं वर्णनो नाम चतुर्थोऽध्यायः ।
यह श्री ब्रह्माण्ड पुराणान्तर्गत ब्रह्मानारद सवाद का शबरी महातम नामक चौथा अध्याय पूर्ण हुआ ।

पञ्चम अध्याय

नारदोवाचः- कथितोऽयं त्वया देव विस्तरेण पितामह ।
अथान्यं श्रोतुमिच्छामि वसिष्ठस्य महात्मनः ॥1॥

नारद कहते हैं :- हे देव पितामह ! यह तो आपने विस्तार से कह दिया अब आगे महात्मा वसिष्ठ का (वृतांत) सुनना चाहता हूँ ।

अत्र गतं कथं वापि तत्सर्वं कथय प्रभो ।
कस्मिन् स्थाने च देशे च वसिष्ठस्य महात्मनः ॥2॥

यहां महात्मा वसिष्ठ का किस स्थान और देश में कैसे आना हुआ? प्रभो! मुझे यह सब बताइए ।

ब्रह्मोवाचः- वसिष्ठस्य शतं पुत्रा राक्षसैः भक्षिताः पुरा ।
तेषां शोकेन संतप्तः वसिष्ठो आगतो पुरा ॥ 3॥

पूर्व काल में वसिष्ठ के सौ बेटे राक्षसों ने खाए थे, उनके शोक से व्याकुल वसिष्ठ तब यहां आए थे ।

हिमालयं प्रति गत्वा देहं पातुं समुद्यतः ।
गते हिमालये वापि देहनाशो न जायते ॥ 4॥

वह हिमालय पर जाकर देह त्यागने को तत्पर हुआ परन्तु हिमालय में जाकर भी देह का नाश नहीं हो सका ।

आरूह्य हिमालये श्रृंगे उत्पतति यदा क्षितौ ।
तथापि न नश्यति देहो वसिष्ठस्य महात्मनः ॥ 5॥

हिमालय की चोटी पर चढ़कर जब पृथ्वी पर गिरे तब भी महात्मा वसिष्ठ के देह का नाश नहीं हो सका ।

नदी तीरे ततो गत्वा दृष्टा नदी भयंकरा ।
नदी मध्येगते प्रातः दृष्टः ब्राह्मण पुंगवः ॥6॥

फिर वे नदी के किनारे गये तो नदी को भयंकर देखा । जब नदी के मध्य में गए तो प्रातः ही श्रेष्ठ ब्राह्मण को वहीं देखा ।

तत्स्यात् शतद्रुः विख्याता त्रिषु लोकेषु नारद ।
वसिष्ठः पुनरूत्थाय तु प्राव्रजत् पुण्यदां नदीम् ।। §7§

हे नारद! वह थी तीनों लोकों में विख्यात शतद्रु §हमारे विचार में व्यास§ फिर उठकर वसिष्ठ पुण्य दायिनी नदी की ओर गए ।

यत्र दृष्टा महापुण्या नदी कल्लोलशालिनी।
स्व शरीरं ततो बध्वा नागपाशे प्रयत्नतः ।। §8§

वहां उन्होंने प्रमोद कल्लोल करती पवित्र नदी देखी, अपने शरीर को भली प्रकार नाग के पाश मे बांधकर

पपात च नदी मध्ये त्यक्तुं च निज जीवनम् ।
नदी मध्ये प्रविष्टे तु, पाशं मुक्तं च जायते ।। §9§

जीवन त्यागने की इच्छा से नदी के बीच में जाकर शरीर को डाल दिया परन्तु नदी के बीच जाते ही उनके पाश खुल कर मुक्त हो गये ।

नदी मध्यात् समुत्थाय चिंतयामास नारद ।
अहो कष्टमहो कष्टं प्राणत्यागो न जायते ॥ §10§

हे नारद ! फिर वे नदी के बीच से उठकर विचारने लगे, हाय-हाय बड़ा भारी दुःख हो गया, किसी प्रकार भी प्राण नहीं निकल रहे ।

अहो काल महात्म्यं किं कर्तुं च अतः परम् ।
मनसा अति संचिंत्य नदी तीरे महामुनिः ।। §11§

अरे! यह तो काल का महात्म्य है अब इस के आगे क्या किया जाए, नदी के तट पर महामुनि मन में इस प्रकार सोचने लगे ।

उपकुर्तं मनश्च स्वं, शोकसंविग्नमानसः ।
तस्याः नद्याः च मध्ये तु व्यासस्तु गीयते सदा ॥ §12§

शोक से संतप्त मुनि लोकोपकार का मन बनाने लगे। उस नदी के बीच में सदा व्यास का गान होता था ।

विपाशा तु ततः प्रोक्ता त्रिषु लोकेषु नारद ।
व्यास गंगा पुरा प्रोक्ता त्रिषु लोकेषु विश्रुता ।। §13§

हे नारद! तभी वह तीनों लोकों में विपाशा कही गयी । पहले काल से जो व्यास-गंगा नाम से तीनों लोकों में प्रसिद्ध है ।

वसिष्ठस्य चसंधाता विपाशा इति स्मृता ।
ततः व्यासासनं कृतं वसिष्ठेन महात्मा ॥ §14§

वसिष्ठ का फिर पालन {पा0छेदम} होने से विपाशा कहलाई । तब महात्मा वसिष्ठ ने व्यास पर ही आसन जमाया ।

तपसस्तु मनः कृत्वा तपस्तप्तं महदभुतम् ।
शीतोष्णजलमापूर्णं नाना पुष्पैश्च शोभितम् ॥{।5}

तपस्या करने का मन बनाकर जहां उन्होंनें बड़ा अद्भुत तप किया वह स्थान तप्त और शीतल जल से युक्त और अनेक प्रकार के फूलों से शोभित था।

नाना धर्म समाकीर्णं शुद्धस्फटिकमंडितम् ।
नाना दिव् समाकीर्णं मणिसोपान निर्मितम् ।। {6}

वह स्थान अनेक शुभ लक्षणों वाला शुद्ध स्फटिकमणियों से जुड़ा हुआ ब्राह्मण क्षत्रिय, वैश्य जनों से भरा हुआ था और उसमें मणियों की सीढ़िया बनी हुई थी।

महदभुतं महातीर्थं वसिष्ठस्य महामुनेः ।
तपस्तप्तं वसिष्ठेन महर्षिगणसेवितम् ।।{7}

महात्मा वसिष्ठ का यह तीर्थ बड़ा अद्भुत है जहां वसिष्ठ ने महामुनियों के साथ तप किया ।

अनेनैव प्रकारेण वसिष्ठस्यागमनं पुरा ।
कुलांते राजपीठे च तपस्तप्तं पुरागमा ।।{8}

क्योंकि पूर्व काल में इस कुलांत नाम के पीठ में तप किया गया था इस कारण वसिष्ठ का यहां आना हुआ ।

आदौ कुंडे नरः स्नात्वा सर्वपापैः प्रमुच्यते ।
एवं महद्भुतं तीर्थं वसिष्ठस्य महात्मनः ।। {9}

यहां पहले कुंड में स्नान करने से मनुष्य सब पापों से छूटता है, ऐसा यह महात्मा वसिष्ठ का अद्भुत तीर्थ है ।

इति वसिष्ठाश्रम वर्णनो नाम पंचमोऽध्यायः ।

वसिष्ठाश्रम वर्णन नाम का पांचवा अध्याय समाप्त हुआ ।

षष्ठ अध्यायः

नारदोवाचः- व्यास कुंडः त्वया प्रोक्तः महातीर्थमद्भुतम् ।
यस्माद् भूतं व्यास क्षेत्रं व्यास गंगा च विस्तृता ।। {1}

नारदः- आपने व्यास कुंड को महान और अद्भुत तीर्थ कहा, जिससे यहां व्यास क्षेत्र और बड़े विस्तार वाली व्यास गंगा उत्पन्न हुए ।

एतत्सर्वं तु इच्छामि विस्तरेण पितामह ।
धन्योऽहं त्वया जातः पिता मम महाप्रभुः ।। {2}

हे पितामह ! मैं यह सब विस्तार से सुनना चाहता हूं। हे महा प्रभु ! मैं धन्य हूँ कि आप मेरे पिता हुए ।

ब्रह्मोवाच- श्रृणु त्वं नारद भद्रं व्यासेन च महात्मना ।
तस्मिन् तीर्थे तपस्तप्तं त्रैलोक्ये लोमहर्षितम् ॥ §3§

ब्रह्माः- हे श्रेष्ठ नारद ! सुनो, महात्मा व्यास ने तीनों लोकों में रोंगटे खड़े कर देने वाली रोमहर्षक तपस्या की ।

कलौ युगेतु सम्प्राप्ते व्यासः सत्यवती सुतः ।
अवतीर्णो हरि व्यासः लोकानां हितकाम्यया ॥§4§

कलियुग आरम्भ हो जाने पर सत्यवती के पुत्र व्यास के रूप में विष्णु ने लोक-कल्याण के निमित्त अवतार लिया ।

अल्पायुषो ऽल्पमेधावी श्रुति धर्म पराङ्मुखः ।
भगवानिति संचिंत्य नररूपं चकार ह ।। §5§

कलियुग में लोग थोड़ी आयु और थोड़ी बुद्धि वाले वेद तथा धर्म से विमुख होंगे ऐसा सोचकर भगवान ने नारायण का रूप धारण किया ।

पराशरात्मजो योगी तपः कर्तुं महोदधेः ।
चन्द्रभागा समीपे तु हेमकुंडस्य दक्षिणे ।। §6§

वह पराशर योगी पुत्र चन्द्रभागा नदी के निकट हेमकुंड के दक्षिण में तप करने को उद्यत हुआ ।

आश्रमं कृतवान् तत्र व्यासस्तदा प्रयत्नतः ।
व्यास कुंडं च तत्रैव कृतं व्यासेनधीमता ।। §7§

तत्र यज्ञं कृतं चैव सह दानैः सदक्षिणैः।
§अन्तिम चरण नहीं है§ §8§

वहां व्यास ने यत्नपूर्वक आश्रम बनाया और बुद्धिमान व्यास ने वहीं पर व्यास-कुंड का निर्माण किया और फिर वहां दान दक्षिणा सहित यज्ञ किया ।

तस्मिन् कुंडे समुद्भूता विपाशा पापमोचिनी ।
सर्वेषां पापनाशाय विपाशा विषनाशिनी ॥ §9§

उस कुंड से पापों और विषों का नाश करने वाली विपाशा सबके पापों का नाश करने के लिए उत्पन्न हुई ।

गिरा रूपा च संभूता स्नान मात्रेण सर्वदा।
तस्यातीरेषु संसिद्दि : सर्वकालेषु सर्वदा ॥ ||10||

उस गिरा रूपी विपाशा में स्नान मात्र से हमेशा पापों का नाश हो जाता है और उस कुंड के किनारे सब कालों में हमेशा सिद्दि की प्राप्ति होती है ।

ततः तीर्थेषु व्यासस्य त्रिषु लोकेषु दुर्लभं ।
क्रतुं महद्भुतं कृत्वा तपस्तेपे समाधिना ।।||11||

इसलिए सब तीर्थों में व्यास का तीर्थ तीनों लोकों में दुर्लभ है क्योंकि यहां समाधि लगाकर तप और बड़ा अद्भुत यज्ञ किया गया है ।

विपाशेति सुविख्याता त्रिषु लोकेषु दुर्लभम् ।
विपाशायाः तटे स्नानं यः करोति शिवार्चनम् ।। ||12||

फिर यह तीनों लोकों में दुलर्भ विपाशा कहलाई, विपाशा के तट पर जो स्नान और पूजा करता है-

स गच्छेत्परम् स्थानं युगानामेकविंशतिः ।
गया गोदावरी गंगा ऐरावती च गोमती ।। ||13||

वह इक्कीस युगों तक परम स्थान में जाता है । गया, गोदावरी, गंगा, गोमती और ऐरावती ।

स्नानमाचरेन्नित्यं विपाशायां दिने-दिने ।
केदारे च कुरूक्षेत्रे जान्हवी तीर्थकाशिषु ।। ||14||

केदार, कुरूक्षेत्र, गंगा, और काशी तथा विपाशा इन तीर्थों में प्रतिदिन स्नान करे।

कांति स्नानं च दानं च विपाशायां दिने-दिने ।
गंगायाः भास्करे क्षेत्रे गंगा-सागर-संगमे ।। ||15||

गंगा के भास्कर तीर्थ और गंगा और सागर के संगम पर तथा संक्रांति आदि पर्व काल में स्नान और दान से जो फल मिलता है वही विपाशा में प्रत्येक दिन स्नान करने से प्राप्त होता है ।

रवि ग्रहणे कुरूक्षेत्रे, विपाशायां दिने-दिने ।
वाराणसी विश्वव्यापी विपाशा पापमोचिनी ।। ||16||

सूर्य ग्रहण के अवसर पर कुरूक्षेत्र में स्नान का जितना फल प्राप्त होता है उतना ही विपाशा में स्नान से प्रतिदिन में मिलता है क्योंकि काशी तो सर्वव्यापी है और विपाशा पापों को काटने वाली ।

तटः प्रयागे रवौ क्षेत्रे च सर्वदा ।
विपाशा स्नान दानानि पराक्रम भवेन्मुखः ।।
§ मूल पाडुलिपि में अनुवाद नहीं है § §।7§

गयायां पिण्डदानेन क्षयाहे पितृके तथा ।
तत्सर्वं लभते देवी विपाशा-स्नानमाचरन् ।।§।8§

गया में पिंड दान अथवा क्षयाह में पितृ कर्म करने से जो फल मिलता है वह सब विपाशा में स्नान करने से मिलता है ।

इति विपाशा वर्णनो नाम षष्ठोऽः ध्यायः।

यह विपाशा वर्णन नामक छठा अध्याय समाप्त हुआ ।

सप्तम अध्यायः

नारदोवाचः- किमर्थीं च महादेवो तपस्पप्तं पुरोविभो ।
तदहं श्रोतुमिच्छामि विस्तेरण चतुर्मुख ।।§।§

नारद बोलेः हे शक्तिमान विभो ! बीते समय में महादेव ने किस लिए तपस्या की ? चारमुखों वाले वह सब मैं विस्तार से सुनना चाहता हूँ ।

ब्रह्मोवाचः- पुरादेवेन शंभुना देवा दैत्यासुराः विनिर्मिता ।
विचित्राणिचवस्तूनि आकाश-गमनानि च ।।§2§

ब्रह्मा बोलेः- पूर्वकाल में शिव ने देवता राक्षस और दैत्यों की रचना की तथा बड़ी विचित्र और महत्वपूर्ण वस्तुएं तथा आकाशादि बनाए ।

स्वेच्छया गंत्पपतिना गौर्या च इह भूतले ।
एवं सर्वं समाज्ञायुः देवैश्च त्रिपुरेश्वरः ।। §3§
§ मूल पांडुलिपि में अनुवाद नहीं है §
एवं सर्वं हविष्येव महादेवोऽ भवत्पुरा ।
तपश्चक्रे समाधिभिः सर्वेषामभयाय च ।। §4§

इस प्रकार पूर्वकाल में सबको मारकर महादेव हुए, तब उन्होंने सबकी निर्भयता के लिए समाधि लगाकर तप किया ।

हिमाचल समाक्रांति सह देवैः महर्षिभिः ।
प्रणम्य शिरसा देवं बद्धांजलिरभाषत ।। §5§

हिमाचल से व्याप्त महादेव को देवताओं और ऋषियों ने शीश झुका कर प्रणाम किया और हाथ जोड़कर बोले -

देवाउवाचः- नमस्तेऽपि सुरानाथ सर्वेषामभयाय च ।
सर्वदेवाधिदेवाय पाह्यस्मान् शरणगतान् ॥ 6 ॥

देवता बोले :- हे देवताओं के स्वामी ! सब देवों के अधिदेव ! आपको नमस्कार है सबको निर्भय करने वाले महादेव आप शरण में आए हुए हमारी रक्षा करें।

शिवसंपूजनं मात्रं विधिदृष्टेन कर्मणा ।
तेनैव दुःखिता सर्वे देवा गधर्व-किन्नराः ।। 7 ।।

जहां शास्त्र विहित विधि से शिव की पूजा होती है इसी से सारे गंधर्व और किन्नर दुःखी हैं ।

तस्मात्तुभ्य नमामश्च पातु नः शरणागतान् ।
इति श्रुत्वा महादेवो सह गौर्या हि भूतले ।। 8 ।।

हम इसलिये आपका अभिवादन करते हैं । शरण में आए हुओं की रक्षा करें ।

महादेवो हि सचित्यमिदं वचनमब्रवीत ।
सर्व कार्य मया ज्ञातं ऋषीणां सर्ववासवैः ।। 9 ।।

महादेव ने सोच कर कहा ! मैंने आप सभी देवताओं और ऋषियों का काम जान लिया है ।

प्रयत्नं क्रियतामेनं हन्तुञ्च त्रिपुरासुरम् ।
आयुधानि च सर्वाणि कवचानि भरणानि च ॥ 10 ॥

इस त्रिपुरासुर शत्रु के मारने का प्रयत्न कीजिए और सारे शस्त्र, कवच और भूषण एकत्र कीजिए ।

सर्वेषां भयनाशाय हनिष्यामि त्रिपुरारिपुम् ।
सरोवरं करिष्यामि सर्वधातुसमन्वितम् ।। 11 ।।

सब के भय दूर करने के लिए इस त्रिपुर शत्रु को मारूंगा तब सभी धातुए मिलाकर वहां सरोवर बनाऊंगा ।

सौवर्णं रजतं चैव स्फटिकैश्च सुशोभितम् ।
सुरेश नाम तत्क्षेत्रं सर्व पापप्रणाशनम् ॥ 12 ॥

सरोवर बनाकर सोने चांदी और स्फटिक मणियों से उसे सजाया गया, ऐसा वह सुरेश क्षेत्र सारे पापों का नाशक हुआ है ।

ब्रह्माद्या देवता सर्वे शिव पूजां चकारह ।
सुरेश क्षेत्रमागत्य शिव पूजां-महात्मना ।। 13 ।।

ब्रह्मा आदि सारे देवताओं ने सुरेश क्षेत्र में आकर महात्मा शिव की पूजा की।

तस्मात्सुरेश तत्क्षेत्रं नाम तस्याभवत्पुरा ।। (14)
......(एक पंक्ति नहीं है)..........:

इसलिए उस क्षेत्र का नाम सुरेश क्षेत्र पड़ा था ।

संक्रांतौ पूर्णिमायां च श्रावणे कार्तिके तथा ।
सरोवरे नरः स्नात्वा सर्वपापैः प्रमुच्यते ।। (15)

संक्रांति अथवा पूर्णिमा को श्रावण और कार्तिक महीनों में इस तालाब में नहाने से सब पापों से मुक्ति प्राप्त होती है ।

सुरेश नाम तत्क्षेत्रं सर्वपापप्रणाशनम् ।
तत्र स्नात्वा गत्वा च पश्चाज्जपं समाचरेत् ।।(16)

सुरेश नाम का वह क्षेत्र सब पापों का नाशक है, वहां जाकर स्नान करके जप करे।

शिवस्य पूजनं तत्र विधिदृष्टेन कर्मणा ।
पंचोपचार पूजां च हविष्याशी जितेन्द्रियः ।।(17)

ब्रह्मचर्यपूर्वक पवित्र भोजन करके गंध पुष्प,धूप,दीप, नैवेद्य से शास्त्र विधि से वहां शिव का पूजन करें ।

नृत्य गीतादि वाद्यैश्च संतुष्टो नैव मानसः ।
ब्राह्मणाय च गां दद्यात् हिरण्यं रजतानि च ।।(18)

नाच, गीत और बाजे मात्र से मन संतुष्ट नहीं होता । अतः ब्राह्मण के लिए गौ, सोना और चांदी दान करे ।

अन्नं वस्त्रं च भूमिं च दद्यात् पात्रं विचिंतयेत् ।
एवं विधं सुतत्क्षेत्रं सर्वसिद्धिप्रदायकम् ।।(19)

पात्रता का ध्यान रखता हुआ अन्न, कपड़ा और भूमिदान भी करे । ऐसा वह क्षेत्र सब सिद्धियां देने वाला है ।

शिवेन च पुरा यत्र तपस्तप्तं महाद्भुतम् ।
भवत्यापुत्रम्पुत्राणां निर्धनानां धनावहम् ।। (20)

वहां पूर्व काल में शिव जी ने बड़ा अद्भुत तप किया था जो पुत्र-हीनों को पुत्र और धन-हीनों को धन देता है ।

विद्वांसः पारगो विप्रं क्षत्रियाणां जयावहम् ।। (21)
...... (एक पंक्ति नहीं है) ..।

यह ब्राह्मण को विद्या निष्णात और क्षत्रियों को विजय दिलाने वाला है ।

वैशाखेषु वशिष्ठस्य व्यास कुंडे तुवैः पुनः ।
मणिकर्णस्य माघे च उत्तमस्य च फाल्गुणे ।। {22}

वशिष्ठ तीर्थ और व्यास को वैशाख में, मणिकर्ण को माघ में, और उत्तम तीर्थ को फाल्गुण में करे ।

पशुपतिमर्चयेत पौषे सबरी चैत्रे च आश्विने ।
संक्रांतौ पौर्णमास्यां च वशिष्ठ-व्यास-कुंडके ।। {23}

पशुपति {कदाचित् बिजली महादेव} को पौष महीने में तथा शबरी को आश्विन और चैत्र में पूजे । वशिष्ठ और व्यास कुंडों में संक्रांति व पूर्णमासी के दिन पूजन करे ।

माघे च निर्मले पक्षे सप्तम्यां च विशेषतः ।
मणिकर्णीर्चनं देव अश्वमेधफलं लभेत् ।। {24}

माघ महीने के शुक्ल पक्ष , उसमें भी सप्तमी तिथि में विशेषतया मणिकर्ण का जो अर्चन करे वह अश्व मेध यज्ञों का फल पावे ।

आश्विने नवरात्रेषु चैत्रे वा चाथवा पुनः ।
निराहारे फलाहारे निराहारेण योषित : ।। {25}

अश्विन अथवा चैत्र के नवरात्रों में महिलाएं फलाहार अथवा निराहार रहा करें । और.....

बलि पुष्पोपहारेण धूपदीपनैवेद्यकैः ।
शवरीं पूजयेत्तत्र रात्रौवा यदि वा दिवा ।। {26}

फल भेंट आदि उपहारों तथा धूप,दीप नैवेद्य आदि से दिन अथवा रात में शबरी की पूजा करे ।

सर्वासिद्दिमवाप्नोति धर्मार्थी सुसमृद्दिमान् ।
इह लोके सुखं चैव देव भक्त्या च आप्नुयात् ।। {27}

इससे धर्म और धन सहित सब सिद्दियां सम्पन्न होती हैं। इस लोक में देव भक्ति से सुख पाती हैं ।

क्षमा तीर्थं तपः तीर्थं तीर्थमिद्रियनिग्रहः ।
सर्व भूत दया तीर्थं ध्यानतीर्थं च उत्तमम् ।। {28}

क्षमा, तप, ईंद्रिय निग्रह सब जीवों पर दया , ये सब तीर्थ ध्यान से उत्तम तीर्थ है ।

एतानि पंचतीर्थानि सत्वं चेष्टानि देहिनाम्।
वसन्ति सर्वदेहेषु तेषु स्नानं समाचरेत् ।। §29§

यह पाचवां तथा छठा तीर्थ सारे देह धारियों में बसते हैं । इन में स्नान अर्थात् इनका सेवन करे ।

इति श्री ब्रह्मांड पुराणे ब्रह्मनारद संवादे शबरी महात्म्ये पीठ वर्णनो नाम सप्तमोऽध्यायः ।

"इति कुलात पीठं समाप्तम्"

यह श्री ब्रह्माण्ड पुराण में ब्रह्मनारद संवाद में शबरी-महात्म्य- पीठ वर्णन नामक सातवां अध्याय समाप्त हुआ । "कुलान्त पीठ महात्म्यम् भी सम्पूर्ण हुआ ।

'मृकुला देवी प्रतिमा', (लाहौल स्पिति)

हिमालयी संस्कृति में जनजातीय भाषा एवं शिक्षा

-एम० आर० ठाकुर

पिछले कुछ वर्षों से संस्कृति के बारे में बहुत कुछ कहा जाने लगा है और यह जरुरी भी है । जिन राष्ट्रों में ‍ और वे एक नहीं अनेक हैं ‍ अनेक सम्प्रदाय, कई धर्म,असंख्य भाषाएं तथा भौगोलिक भिन्नताएं प्रचलित हों, वहा राष्ट्र को अस्तित्व में रखने के लिये संस्कृति ही एक मात्र प्रभावी साधन है। वह राष्ट्र की आत्मा है, उसकी जीवनवाहिनी है । यह वह दिव्य-ज्योति है जो भूत के अनुभवी ज्ञान से वर्तमान के उपयोगी अध्ययन और भविष्य के विकासशील अनुशीलन का पथ-प्रदर्शन करती है । "सम्" उपसर्गपूर्वक "कृ" धातु से भूषण अर्थ में सुट् का आगम करके "क्तिन्" प्रत्यय करने से व्युत्पन्न "संस्कृति" शब्द का व्यावहारिक अर्थ "भूषणभूत सम्यक् - कृति" है। जगत में सभी प्राणी जीवित रहने के लिये चेष्टाओं में सर्वदा जुटे रहते हैं । परन्तु पशु-पक्षी, कीट-पतंग के भोगाभ्यास में ऐसी चेष्टाएं स्वाभाविक ही हुआ करती हैं । उनमें भले-बुरे, भद्र-अभद्र, सम्यक-असम्यक का भेद नहीं रहता । मनुष्य योनि में ही जीव कर्म करने में स्वतन्त्र रहता है ।वे अच्छी और बुरी, सम्यक और असम्यक दोनों प्रकार की चेष्टायें करने में समर्थ है । समाज में रहते हुये सम्यक चेष्टाओं से की गई कृतियां ही संस्कृति कहलाती हैं । इसीलिए सामाजिक बुराइयां, अन्धविश्वास और असंगत रूढ़ियां संस्कृति की परिधि में नहीं आतीं क्योंकि उनमें सम्यकता और उपयुक्तता का समावेश नहीं है ।

मनुष्य स्वभाव से कर्मशील है । वह अपनी सुख-सुविधा , आजीविका उपार्जन, वृद्धि-समृद्धि के लिये निरन्तर सतर्क, सचेष्ट और संघर्षरत रहता है । इस तरह उसके सतत कर्मों का सुसंस्कृत रूप संस्कृति है । मानव - समाज में कार्यों की विविधता है । अपने आचार-विचार, रहन-सहन , बोल-चाल, मनन-चिन्तन से मानव जिन मानदण्डों का सृजन करता है वे संस्कृति के मूलाधार हैं । निश्चित रूप से संस्कृति का क्षेत्र इतना ही विशाल और विस्तृत होगा जितना मानव जीवन बहुमखी होगा । अतः समाज के रीति-रिवाज, दर्शन-धर्म, साहित्य - इतिहास, ज्ञान-विज्ञान, कला-भाषा , शिक्षा-दीक्षा, प्रथाएं-परम्पराएं आदि संस्कृति के प्रमुख अंग हैं । वस्तुतः संस्कृति में राष्ट्र या समाज की पूर्ण जीवन- पद्धति सन्निहित है । इसमें समाज या राष्ट्र के वे सभी कृत्य और अनुष्ठान शामिल हैं जिन्हें मानव ने अपने लम्बे इतिहास में धार्मिक, आध्यात्मिक, लौकिक, पारलौकिक, आर्थिक, राजनैतिक, सामाजिक क्षेत्र में सम्यक् और उपयुक्त पाया है तथा आदर्श रूप में संजोए रखा है ।

कुछ लोग संस्कृति को धर्म का परिष्कृत रूप मानते हैं परन्तु यहां धर्म से अभिप्राय हिन्दू, मुस्लिम, सिख, ईसाई आदि धर्म -विशेष से नहीं है । यदि संस्कृति किसी धर्म-विशेष से सम्बद्ध हो तो उससे "सम्" की भावना लुप्त हो जाती है । "सम्" से युक्त "कृति" ही वस्तुतः संस्कृति है । सन्निकटता,' स्निग्धता, समानता , सम्पूर्णता और संयमकता की भावना संस्कृति की विशिष्टता है । संस्कृति को जब धर्म से जोड़ने की बात की जाती है तो धर्म का अर्थ वह है जिसकी हमारे शास्त्रों में निम्न शब्दों में परिकल्पना की है :-

धृतिः , क्षमा, दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः ।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकम् धर्मलक्षणम् ॥

अर्थात् धर्म वह है जिसके धृति {धैर्य}, क्षमा, दम {वाह्य वृत्तियों का दमन}, अस्तेय{संयम}, शौंच, { शुद्वि पवित्रता}, इन्द्रियों को वश में करना, धी {बुद्वि-विवेक}, विद्या, सत्य और अक्रोध दस गुण हों ।

संस्कृति का सभ्यता से कहीं ऊंचा स्थान है । संस्कृति अनुभवजन्य ज्ञान है और सभ्यता बुद्विजन्य ज्ञान पर निर्भर करती है । अनुभवजन्य ज्ञान सतत तथा नित्य रहता है परन्तु बुद्विजन्य ज्ञान परिवर्तनशील है । इसलिए संस्कृति नित्य तथा सभ्यता अस्थायी और परिवर्तनशील है । कृत्य एवं कर्म सर्वदा देश-काल की परिधि में समायोजित होते हैं । अतः एक स्थान या देश की प्रकृति में परीनिष्ठित संस्कारों का दूसरी परिस्थितियों और प्रवृत्तियों में जनित संस्कारों से भिन्न होना स्वाभाविक है । इसीलिए प्रत्येक राष्ट्र की संस्कृति दूसरे राष्ट्र की संस्कृति से भिन्न विशिष्टताएं अपनाती हुई प्रदर्शित होती हैं । प्राकृतिक विधानों के अनुरूप संस्कार की हुई पद्वति ही वास्तविक संस्कृति है ।

भारतीय जन-जीवन में हिमालय का एक विशिष्ट स्थान है । केवल इसलिये नहीं कि इसके गगन-चुम्बी उच्च-शिखर, बर्फ से ढकी चोटियां, हरी-भरी - गहरी घाटियां, घने जंगल, विस्तृत वादियां, वनस्थली, प्रकृति का असीम सौंदर्य आदि-काल से आकर्षण के केन्द्र रहे हैं। जहां ऋषियों, साधु-सन्तों, सिद्व-पुरूषों , महात्माओं , सैलानियों और तीर्थ-यात्रियों ने अपनी-अपनी मनोकामना पूरी की है तथा कवियों, लेखकों, कलाकारों ने अपने-अपने विषय में प्रेरणा पाई है, बल्कि इसलिये भी कि मानवीय विकास भारतीय समाज के विभिन्न आयामों के गठन और इतिहास के बनाने-संवारने में हिमालय ने महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है । भारत के प्रथम प्रधानमन्त्री स्व॰ श्री जवाहर लाल नेहरू ने कहा है:-

"हिमालय हमारे लिए न केवल निकटतम है, अपितु प्रियतम भी रहा है, क्योंकि यह हमारे इतिहास और काव्य, हमारी परम्पराओं, विचारधारा, श्रद्धा, भक्ति और निष्ठा में सहभागी रहा है । यह भारत के विशाल भूभाग को केवल प्राकृतिक रूप से ही प्रभावित नहीं करता, वरन् हमें गम्भीर संदेश भी देता है ।"

हमारे शास्त्रों ने हिमालय की महिमा गाई है । वेदों ने हिमालय को अनेक नदियों और औषधियों का स्रोत कहा है । नदियाँ भारत की जीवन-दायिनी बनी हैं और औषधियों ने मानव को शारीरिक और मानसिक रूप से आध्यात्मिक और भौतिक अन्वेषण के लिये स्वस्थ बनाया है । प्राचीन आर्य लोग हिमालय को स्वर्ग और देवी-देवताओं का निवासस्थान मानते थे । पुराणों में कहा गया है कि ब्रह्मा के सहस्र वर्षों में भी हिमालय की महानता का उल्लेख नहीं हो सकता । यह भी कहा गया है कि 'जो व्यक्ति हिमालय का केवल स्मरण करता है, भले ही उसने हिमालय के दर्शन भी न किये हों, उसका जीवन उस व्यक्ति से अधिक सफल है जो प्रतिदिन काशी में पूजा करता है । यही आर्य लोगों की निवास और तपोभूमि रही है । इसी तपस्थली में रह कर आर्य ऋषियों ने वेदों की रचना की जिसे आज संसार भर में सबसे प्राचीन साहित्य होने का गौरव प्राप्त है ।

यहीं से ऋषि-मुनियों ने भारतीय साहित्य और समाज को धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष का वह संदेश दिया जो आज भारतीय संस्कृति का मेरुदण्ड है । वेदों की रचना का मूल स्थान हिमालय रहा है, यह तथ्य निर्विवाद स्वीकार किया जाता है और वेद भारतीय संस्कृति के मूलाधार हैं । वेदों की रचना के हजारों वर्षों बाद राष्ट्र की एकता के बारे में जिस बात की आज आवश्यकता हम महसूस कर रहे हैं उसका वेद में किन सुन्दर शब्दों में उल्लेख किया गया है :-

ध्रुवं ते राजा वरूणो ध्रुवं देवो बृहस्पतिः ।
ध्रुवं ते इन्द्रश्चाग्निश्च राष्ट्रं धारयताम् ध्रुवम् ॥

वरुणदेव हमारे राष्ट्र को अचल बनाएं, बृहस्पति हमारे राष्ट्र को स्थिरता प्रदान करें । इन्द्र हमारे राष्ट्र को अडिग रखें और अग्नि हमारे राष्ट्र को अविचल दृढ़ता के साथ धारण करें ।

वस्तुतः हिमालय भारतीय संस्कृति का स्रोत है । आदि ऋषि-मुनियों ने न केवल प्रकाश, शान्ति और आध्यात्मिक समृद्धि के लिये हिमालय की ओर निहारा है, वरन् अपने तप, साधना, अध्ययन, चिन्तन, मनन से भारत को वह सनातन संस्कृति प्रदान की है जो हजारों वर्षों के बाद आज भी शब्दशः

उपयुक्त ठहरती है। बीसवीं शताब्दी के उतरार्द्ध के आक्रोश और संघर्ष भरे राष्ट्र में हमें वेदों की शरण में जाना पड़ता है -

संगचछध्वं संवदध्वं
सं वो मनांसि जानताम् ।

"-हम इकट्ठे मिल कर चलें,साथ बोलें,
हमारे मन समान विचार करें ।"

हिमालय की संस्कृति अनेकता में एकता का संदेश देती है । त्याग की भावना को बल देती है । यह देव संस्कृति है । सहनशीलता,परोपकार और दूसरों के प्रति सद्भावना इसकी विशिष्टता है । दूसरों के विचारों और मान्यताओं को सम्मान देना हिमालयी संस्कृति का गुण है । वस्तुतः हिमालय भारतीय समग्र संस्कृति के गौरव का प्रतीक है । यह भी उल्लेखनीय है कि प्राचीन काल में महात्मा बुद्ध द्वारा भारतीय संस्कृति का जो मानवीय संदेश सारे एशिया क्षेत्र में फैलाया गया उसका प्रमुख द्वार हिमालय ही था । इस तरह जहां हिमालय को एक ओर समस्त भारत की संस्कृति का स्रोत होने का गर्व प्राप्त है, वहीं दूसरी ओर भारतीय संस्कृति को एशिया के विभिन्न देशों में प्रसारित करने का श्रेय भी हिमालय को ही जाता है ।

भाषा और शिक्षा संस्कृति के दो प्रमुख तत्व हैं । हिमालय के पूर्वी छोर से लेकर पश्चिमोत्तर सीमा तक प्रायः दो परिवार की भाषाओं का प्रचलन है --भारतीय आर्य भाषा और भारतीय तिब्बती भाषा परिवार । दोनों भाषाओं का हिमालय की संस्कृति के प्रति भिन्न प्रकार का योगदान रहा है । बौद्ध धर्म के विश्व भर में फैलने के दो प्रमुख कारण थे- प्रथम यह कि उसमें धर्म के कड़े नियमों और तर्क-वितर्क के लिये कोई स्थान नहीं था। अभ्यास और अनुभव ही उसके मूलाधार थे । महात्मा बुद्ध का उपदेश था कि "किंवदन्तियों में विश्वास मत करो, न ही परम्पराओं, अफवाहों, अनुश्रुतियों और प्रथात्मक निश्चय पर विश्वास करो-- परन्तु यदि तुम्हें स्वयं ज्ञान हो जाए कि कौन सी बुराई है, कौन सी वस्तु कष्ट और दुर्भाग्य लाती है तो तुम उसे अस्वीकार करो और केवल उसी को स्वीकार करो जिसे तुम स्वयं देखो, पहचानों और समझो । दूसरे यह कि बुद्ध ने अपने प्रचार और विचार प्रसारण के लिये लोक भाषा का प्रयोग किया । भारतीय चिन्तन की यह बिडम्बना रही है कि जब लोग संस्कृत बोलते थे तो प्रबुद्ध समाज वैदिक संस्कृत में रचना करता था । साहित्य ने लौकिक संस्कृत अपनाई तब तक लोग प्राकृत भाषा तक पहुंच चुके थे : स्थिति आज तक बरकरार चली आ रही है। प्राकृत में लिखने तक लोग अपभ्रंश में पहुंचे और आज भी जब जनता को देशज में साहित्य अपेक्षित है- प्रबुद्ध साहित्यकार उनकी बात को नहीं समझते ।

परिणाम स्पष्ट है--लोक मानस और प्रबुद्ध मानस के बीच एक बहुत बड़ी खाई विद्यमान है । यह खाई पाटने में नहीं आती । आये दिन निकट आने की बजाए दूर जा रही है । संस्कृति के सुरक्षित रहने और विकसित होने का सशक्त माध्यम भाषा है । ऐसी भाषा जो सामान्य जीवन से अलग होकर बात करे, स्थायी प्रभाव नहीं छोड़ सकती । परम्परागत भाषा का जीवन से ज्यों-ज्यों सम्बन्ध टूट जाता है,त्यों-त्यों उसकी संस्कृति की सजीवता कम होती जाती है ।

महात्मा बुद्ध ने अपने सिद्धान्तों को लोक भाषा में लिखा और लोक भाषा को ही उसका प्रसारण माध्यम बनाया । ब्राह्मण समाज और साहित्य जब दूर- दराज जंगलों,उच्च पर्वत शिखरों,नदी-नालों के किनारों, उजाड़ धरती, उबड़ -खाबड़ वादियों में बसने वालों को अछूत-म्लेच्छ समझ कर तिरस्कृत कर रहा था, तब महात्मा बुद्ध और उनके अनुयायियों ने इस उपेक्षित समाज को गले लगाया । उनकी भाषाओं और रीति-रिवाजों का आदर किया । उन्हीं के स्थानीय माध्यम से भारत वर्ष में पनपे विचारों एवं संस्कारों को सुसम्पन्न किया ।

यह भाषा कौन थी? साधारण जन मानस की भाषा । बौद्ध धर्म जब तिब्बत देश में पहुंचा तो तिब्बत वासियों ने अपने देश को "बोद" अपने आप को "बोद-पा" और अपनी भाषा को 'बोद-स्कद' कहा । यहां "बोद" का अर्थ बौद्ध ही है क्योंकि तिब्बती (अर्थात् बोद) लिपि में घोष महाप्राण (घ,झ,ढ,ध,भ) अक्षर नहीं होते । यह यहां के सामान्य लोगों की भाषा थी जिसे हम आज बौद्ध भाषा, भोट या भोटी भाषा कहते है । एशिया के विभिन्न देशों में बौद्ध-धर्म पहुंचने से पहले ही भारत वर्ष के इन सीमान्त प्रदेशों में बौद्ध धर्म पहुंच चुका था क्योंकि भारत वर्ष से एशिया के देशों को भारत के सीमावर्ती प्रान्तों से होकर ही बौद्ध धर्म पहुंच सका है । ऐसी स्थिति में हमारे देश के उत्तर की दिशा में सीमावर्ती क्षेत्रों की भोटी भाषा को विदेशी भाषा कहना या मानना कदापि युक्ति संगत नहीं है । यह इन क्षेत्रों की मातृ भाषा थी और क्योंकि यहां के निवासियों को भारतीय बौद्ध दर्शन और बौद्ध धर्म इन्हीं की भाषा में प्राप्त हुआ अतः उन्हें भारत के मूल भाग की भाषा की ओर ताकना नहीं पड़ा । यह भी उल्लेखनीय है कि जिस लिपि में भोटी या तिब्बती भाषा लिखी जाती है वह तो पूर्णतया भारतीय लिपि है । इसे सातवीं शताब्दी में तिब्बत के राजा स्रोङ्चन गम्पों के निर्णय और आदेशों पर वहां के विद्वान थोनमी ने काश्मीर और नालंदा विश्वविद्यालयों में संस्कृत वाङ्मय,बौद्ध दर्शन और साहित्य आदि का अध्ययन करने के बाद तिब्बत में बौद्ध धर्म और दर्शन के प्रचार-प्रसार के लिये उस समय की ब्राह्मी

सोमसी

लिपि के आधार पर निर्मित किया था । उसकी विद्वता और महान उपलब्धि के कारण थोनमी को 'सम्भोट' §श्रेष्ठ तिब्बती§ की उपाधि दी गई । हो सकता है थोनमी सम्भोट द्वारा निर्मित लिपि के आधार पर ही इस लिपि और भाषा को भोट या भोटी कहा गया हो । लिपि के अतिरिक्त थोनमी सम्भोट ने आठ खण्डों में भोट §तिब्बती§व्याकरण भी लिखा ।

सारे क्षेत्र में एक ही भाषा रही हो, ऐसी स्थिति नहीं है । स्थान-स्थान की भाषा में अन्तर आना स्वाभाविक है परन्तु मोटे तौर पर सारे हिमालय क्षेत्र की भाषा में विशेष समानता रही है । डॉ0 ग्रियर्सन ने पूर्व में दार्जिलिंग से लेकर किन्नौर-लद्दाख तक की बोलियों में समानता दर्शाई है जिसे वे "कम्पलैक्स" प्रोनामीनलाइज़्ड अर्थात् "संश्लिष्ट सर्वनामीय" भाषा कहते हैं और कुछ विद्वानों ने इसे किराती का नाम दिया है परन्तु सामान्य रूप से यह भोट या भोटी नाम से अधिक प्रसिद्ध है क्योंकि हिमालय के अन्तरिम भाग में लामाओं और साहित्य की वही भाषा है जो आम लोगों की भाषा है, इसलिये साहित्य और धार्मिक कृतियों की भाषा आम लोगों के लिये बोझिल नहीं है । सामान्य भिन्नता को छोड़ लद्दाख,स्पिति,ऊपरी किन्नौर, लाहुल,भूटान, नेपाल, सिक्किम,अरुणाचल के बौद्ध अनुयायी अपने धर्म और भाषा को बखूबी समझ लेते हैं । धार्मिक व्यापार और आम जीवन व्यवहार में एक भाषा होने के कारण धार्मिक अनुष्ठान सांस्कृतिक अनुष्ठान से अधिक भिन्न नहीं रहे हैं ।

शिक्षा का सीधा सम्बन्ध भाषा से है । भाषा के माध्यम से ही शिक्षा का संचार-प्रसार सम्भव है । इस दिशा में भोटी भाषा क्षेत्र में शिक्षा का स्थान आदिकाल से महत्वपूर्ण रहा है ।अन्य बौद्ध धर्म देशों की तरह भारत की उत्तरी सीमांत क्षेत्र के बौद्धों की परम्परागत शिक्षा के केन्द्र यहां के बौद्ध-विहार या गोन्पे रहे हैं ।

वस्तुतः बौद्ध विहार या गोन्पा महात्मा बुद्ध की मानव समाज के लिये एक अद्भुत देन थी । यह केवल भिक्षुओं के रहने और पूजा पाठ करने का स्थान नहीं था, वरन् यह मनुष्य की धार्मिक,आर्थिक , सामाजिक , सांस्कृतिक, बौद्धिक , आध्यात्मिक, शैक्षिक गतिविधियों का केन्द्र रहा है । यह शिक्षा के लिये पाठशाला ,धर्म के लिये मन्दिर,परामर्श-विमर्श के लिये सभा-सदन और कलाविधा के लिये विशिष्ट रंगशाला रहे हैं । फलतः बौद्ध विहारों ने सामाजिक व्यवस्था में उच्च कोटि के जीवन-मूल्य प्रदान करने के प्रति महत्वपूर्ण योगदान दिया है । विशेष रूप से हिमालय क्षेत्र में इस संस्था ने प्राचीन समय के अपठ और अन्धविश्वासी समाज में उच्च संस्कृति और ज्ञान का प्रकाश उदीयमान किया है ।

बौद्ध विहारों के बहुविध आयामों में मूलतः ये ज्ञान अर्जन और शिक्षा प्राप्ति के केन्द्र रहे हैं । शिक्षा के लिये ये स्कूल, कालेज तथा विश्वविद्यालय थे । आचार और नैतिक-बल शिक्षा का मुख्य उद्देश्य रहा है । बौद्ध धर्म और दर्शन का सम्यक ज्ञान बौद्ध विद्यार्थियों का प्रधान कार्य था । गोन्पा-विहार के आचार्य बौद्ध दर्शन और धर्म ग्रन्थों के महान विद्वान हुआ करते थे । वे शिष्यों के लिये गुरु, धर्मज्ञाता, मार्गदर्शक, अध्यात्मविद थे । वे शिष्यों में धार्मिक मर्यादाओं, आध्यात्मिक ज्ञान और पवित्र संस्कारों का संचार करते थे । विहारों में शिक्षा केवल विधिवत् दीक्षित शिष्यों तक सीमित नहीं थी । अन्य बालक -बालिकाएं भी शिक्षा प्राप्त करते थे । किसी जाति, नसल, वर्ण धर्म का भेदभाव नहीं था । छात्रों का शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक रूप से सर्वाङ्गीण विकास शिक्षा का मूल उद्देश्य था । चरित्र निर्माण बौद्ध विहारों की शिक्षा-पद्धति की विशेषता रही है।

मानसिक वृद्धि के लिये स्वस्थ शरीर की आवश्यकता की ओर विशेष ध्यान दिया जाता था। इसलिये व्यायाम को महत्व दिया जाता था। बौद्ध शिक्षा पद्धति में चिकित्सा विधा का एक उच्च स्थान था । बौद्ध चिकित्सा प्रणाली आज विश्व भर में प्रसिद्ध है । यही नहीं इन गोन्पाओं में चित्रकारी, काष्ठकला, मूर्ति-कला, वास्तुकला, नृत्य संगीत और ज्योतिष आदि विभिन्न विषयों में भी शिक्षण-प्रशिक्षण दिया जाता है । आज भी इन सभी कलाओं में बौद्ध कलाकारों का सम्मानपूर्ण स्थान है । इनकी कला कुशलता संसार भर में ख्याति प्राप्त कर चुकी है । आज भी इन गोन्पाओं में इस तरह की व्यवस्था है । परन्तु समस्या यह है कि अब आधुनिक शिक्षा पद्धति से इन्हें दो-चार होना पड़ रहा है और इसके लिये राजनीति की उथल-पुथल ज़िम्मेदार है ।

1947 में भारत की स्वतन्त्रता के बाद देश भर में सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक, धार्मिक और शैक्षिक क्षेत्रों में भारी परिवर्तन आया है। इस दृष्टि से सीमान्त क्षेत्र इस प्रभाव से अछूते नहीं रह सकते थे । अतः इन क्षेत्रों में जो परिवर्तन आया वह अपवाद नहीं है, यद्यपि यह भी सच है कि ऐसे परिवर्तन और विकास की आरम्भिक यात्रा इन पहाड़ी क्षेत्रों में मैदान की अपेक्षा बहुत धीमी रही है । परन्तु इन क्षेत्रों में वास्तविक परिवर्तन 1962 में चीनी आक्रमण के कारण हुआ है । इस आक्रमण के परिणामस्वरूप भारत और तिब्बत के बीच सीमा बन्द हो गई, आपसी आना-जाना बन्द हो गया । फलतः इन क्षेत्रों और तिब्बत के साथ चला आ रहा शताब्दियों, सहस्राब्दियों पुराना सम्पर्क टूट गया । तिब्बत के साथ इन क्षेत्रों की सांस्कृतिक, धार्मिक, व्यापारिक, आर्थिक गतिविधियां अकस्मात्

अवरुद्ध हो गई ।

तभी सामरिक महत्व के इन क्षेत्रों को भारत की मुख्य भूमि से जोड़ने की आवश्यकता ज़ोर पकड़ गई । उत्तर की ओर से आक्रमण के और भय की सम्भावना को रोकने के उद्देश्य से इन क्षेत्रों में यातायात और संचार- प्रसार माध्यम ने भारत सरकार का विशेष ध्यान आकर्षित किया। सुदूर सीमा क्षेत्र तक सड़कें बन गईं । ऊबड़-खाबड़ धरती, बड़ी-बड़ी चट्टानों, भयानक पहाड़ों को चीरती हुई सड़कें दुनिया के सब से ऊंचे गावों तक पहुंच गईं । गांव से गांव जोड़ती हुई सड़कों का जाल बिछ गया। जीपें, कारें, बसें धुआं उड़ाती हुई भाग रही हैं । क्षेत्र की छोटी- छोटी नदियों ने विद्युतोत्पादन करके गावों को रौशन कर दिया है । आकाशवाणी और दूरदर्शन सुविधायें घर-घर में पहुंच गईं । हवाई सेवा उपलब्ध है ।

ऐसी स्थिति में सीमा प्रान्त के क्षेत्रों का जीवन पूर्णतया बदल गया है । बाहर से आये लोगों से सम्पर्क बढ़ गया । उनके रहन-सहन,वस्त्राभूषण, खान-पान के तौर-तरीकें ने क्षेत्रीय जन-जीवन में चमत्कार पैदा कर दिया । जहां ढेरों ईंधन लकड़ी जलाने से मसूर की दाल नहीं पकती थी वहां कूकर ने माश,रोंगी,राजमाह तो क्या मांसाहारियों के लिये मांस पकाना सुलभ बना दिया । कोट,पेंट,कमीज,सलवार ने सदियों पुराने पारम्परिक वस्त्र उतरवा दिये हैं । जहां वर्ष भर में काठू और नंगा जौ की एक फसल पकती थी वहां अब अनेक प्रकार की फसलें उगने लगी हैं । कोन-कोने में सरकारी राशन पहुंच गया है । चावल,गेंहू , तेल मिट्टी, दालें सुविधाजनक रूप से प्राप्य हैं । गावों में पानी के नलके लग गये हैं । सफ़ाई का प्रबन्ध किया जाता है । गलियां पक्की और साफ सुथरी बन रही हैं। अत्यन्त जोखिम भरे झूलों के स्थान पर बड़े-बड़े पुल बन गये हैं । सारे क्षेत्र में यातायात सुलभ हो गया है । ये सारी उपलब्धियां निश्चय ही प्रगति की सूचक तो हैं परन्तु सब कुछ बेहतरीन हो गया है, ऐसा विश्वास करना अपने-आपको धोखा देना है । विभिन्न क्षेत्रों में विकास कार्यक्रमों की उपलब्धियों की दृष्टि से हो सकता है यह क्षेत्र मुख्य भूमि से जुड़ गया है परन्तु क्या मानसिक और भावनात्मक दृष्टि से भी भारत की मुख्य धारा से यहां का जनमानस जुड़ चुका है ? इसमें संदेह है । जब तक इस क्षेत्र की धार्मिक, सामाजिक और सांस्कृतिक मान्यताओं का सम्मान नहीं किया जाता और उन्हें सुरक्षित और विकसित करने के प्रति सही कदम नहीं उठाए जाते तब तक मानसिक रूप से यह धरती भारत की मूल भूमि से नहीं जुड़ सकती। धर्म,कर्म, दर्शन और संस्कृति के क्षेत्र में सीमा प्रान्त क्षेत्र सदियों तक तिब्बत

देश से जुड़े रहे हैं । जब भारत-वासियों का भूले से भी कोई ध्यान इस ओर नहीं जाता था तब इनका सीधा सम्बन्ध केवल तिब्बत देश से स्थापित था । तिब्बत से इन प्रान्तों का यह सम्पर्क अवश्य अब टूट चुका है परन्तु यह सम्पर्क अभी भारत की मुख्य धारा से नहीं जुड़ पाया है । हिमालय में स्थित भारत के इस सीमावर्ती भूभाग में एक विशिष्ट प्रकार की संस्कृति विद्यमान है । इसमें तिब्बत के महायान बौद्ध, भारत की मूल संस्कृति के अवशेष तथा क्षेत्रीय पहाड़ी संस्कृति के गुण मिश्रित रूप से संजोए पड़े हैं । आर्थिक,व्यापारिक और धार्मिक दृष्टि से तिब्बत पर आश्रित रहने के कारण यह संस्कृति तिब्बत की संस्कृति से कुछ मेल तो खाती है। परन्तु मूल रूप में इसका अपना व्यक्तित्व है जिसे वह स्वंय शीघ्र खो देगी, यदि इस ओर विशेष ध्यान नहीं दिया जायेगा।

विभिन्न प्रकार के विकास कार्यक्रमों की उपलब्धियों,मैदानी लोगों के साथ निकट सम्पर्कों,विज्ञान और तकनीकी साधनों से प्राप्त सुविधाओं के फलस्वरूप सीमावर्ती लोगों का जीवन के प्रति दृष्टिकोण पूर्णतया बदल चुका है। हिमालय संस्कृति की प्राचीन परम्पराएं, आस्थाएं, प्रथाएं और आर्थिक एंव धार्मिक व्यवस्थाएं जिन्होनें सदियों तक सीमा प्रान्तीय जन-जीवन को सुव्यवस्थित और सुगठित रखा था, डांवा-डोल हो गई हैं । सदियों पुरानी सामाजिक नींव हिल चुकी है, बौद्ध सम्प्रदाय अपने जन-जीवन से अलग हो रहा है ।

इन सारे परिवर्तनों के पीछे शिक्षा का मूल स्थान है । गांव-गांवों में वर्तमान शिक्षा प्रणाली के स्कूल खुल गये हैं । स्कूलों का दर्जा बढ़ाया जा रहा है । उच्च-स्तरीय और तकनीकी शिक्षा-प्रशिक्षण के लिये छात्र छात्राओं को छात्रवृत्तियां दी जा रही हैं जो शिक्षा-प्रशिक्षण पूरी कर रहे हैं उन्हें सरकारी सैनिक-असैनिक नौकरियां मिल रही हैं । परिणामस्वरूप बौद्ध-विहारों गोन्पाओं की पकड़ ढीली पड़ती जा रही है । उनका महत्व क्षीण हो रहा है । उनमें भिक्षुओं की गिनती घटती जा रही है । पूजा-पाठ की श्रद्धा मे कमी आ रही है । पारम्परिक शिक्षा प्राप्त करने और बौद्ध धर्म की सेवा करने के लिये गोन्पाओं में जाने वाले बालक-बालिकाओं की सख्यां घटती जा रही है । वे बौद्ध विहारों में जाने की अपेक्षा सरकारी स्कूलों में जाना अधिक लाभदायक समझते हैं क्योंकि सरकारी स्कूलों की शिक्षा से उन्हें आजीविका कमाने के लिये अधिक साधन दिखाई देते है।

परन्तु वर्तमान शिक्षा-पद्धति के कई नुकसान स्पष्ट सामने आ रहे हैं । इस शिक्षा ने पलायनवाद को जन्म दिया है । जो युवक शिक्षा प्राप्त कर रहे हैं वे अपना गांव छोड़ कर बड़े शहरों और नगरों में आ

गए हैं। स्वभावतः स्थानीय लोग इनकी सेवाओं से वंचित हो रहे हैं। ऐसे अनेक उदाहरण हैं। जहां पढ़े-लिखे लोग अपना क्षेत्र छोड़ कर स्थायी रूप से बड़े शहरों या अन्यत्र बस गये हैं । उन्हें अपने क्षेत्र से कोई सहानुभूति या प्यार नहीं रहा है । स्पष्टतः वर्तमान शिक्षा का वास्तविक उद्देश्य स्वतः समाप्त हो रहा है । माध्यमिक या उच्च स्कूली शिक्षा में ही युवक-युवतियां गांव छोड़ कर शहरों में बसने का स्वप्न देखने लगते हैं।

इसी से सम्बन्धित एक और समस्या प्रशासनिक स्तर पर खड़ी हो गई है । सीमा प्रान्त के लोग उच्च शिक्षा प्राप्त करने के बाद नौकरी में लगने पर अपने क्षेत्र में सेवा करना नहीं चाहते । उनमें हीन भावना आ गई है । वे अपने ही इलाके में नौकरी करना नहीं चाहते। इस तरह इन क्षेत्रों के विकासीय कार्यक्रमों से अपेक्षित लाभ प्राप्त नहीं हो रहा है उच्च शिक्षा और तकनीकी प्रशिक्षण प्राप्त करने के बाद स्थानीय युवक अपने क्षेत्र की अधिक लाभदायक और उपयोगी सेवा कर सकता है और स्थानीय लोगों की इनसे ऐसी आशा स्वाभाविक भी है परन्तु युवक ऐसे शिक्षण-प्रशिक्षण के बाद उन क्षेत्रों में जाने से कतराता ही नहीं उनसे दूर रहने की कोशिश करता है । फलतः समाज की सुविधा के लिये खोले अनेक अस्पताल, औषधालय, पशुचिकित्सालय, स्कूल, वन मण्डल, लोक निर्माण-कार्य संस्थान खाली रहते हैं क्योंकि उन क्षेत्रों से प्रशिक्षित दक्ष व्यक्ति वहा नहीं जाते और बाहर के कर्मचारी स्थानीय परिस्थितियों से अपरिचित होने के कारण पूरी तन्मयता से काम नहीं कर सकते और कुछ समय सेवा करने के बाद बाहर निकलने का प्रयत्न करते हैं । पढ़े-लिखे सीमा-प्रान्तीय व्यक्तियों को अपनी संस्कृति से प्यार नहीं रहा है और बाहर से आये कर्मचारियों को इसकी पहचान नहीं है। ऐसा कुठाराघात यहां की समृद्ध संस्कृति कब तक सहन कर सकती है ।

वर्तमान शिक्षा प्रणाली से स्थानीय संस्कृति के अतिरिक्त भाषा को सीधी हानि पहुंच रही है । सदियों से भोटी भाषा जनमानस की भाषा रही है । वह हर क्षेत्र में उनकी सेवा करती रही है । उसमें हर प्रकार के काम के निष्पादन की क्षमता है परन्तु उसे शिक्षा संस्थानों और सचार-प्रसार माध्यमों में काम में नहीं लाया जा रहा है। ऐसी स्थिति में वह शीघ्र ही अपना सामर्थ्य खो बैठेगी और भोटी भाषा में उपलब्ध समृद्ध साहित्य से स्थानीय और भारतीय समाज वंचित हो जाएगा ।

उक्त तथ्यों को ध्यान में रखते हुये यह जरूरी है कि सरकार की वर्तमान शिक्षा-नीति की निष्पक्ष समीक्षा की जाये। यह निश्चित है कि वर्तमान शिक्षा तो पढ़ाई ही जाएगी । कोई भी प्रबुद्ध व्यक्ति देश-विदेश की उपलब्धियों से वंचित नहीं रहना चाहेगा । उसे राष्ट्र भाषा में लिखना, पढ़ना, गणित, सामाजिक शिक्षा, विज्ञान, राजनीति, अर्थ-विज्ञान आदि शिक्षण अनिवार्य है परन्तु जो शिक्षा प्रणाली स्थानीय परिस्थितियों, सामाजिक एवं सांस्कृतिक धरोहर की पहचान नहीं करती वह स्थानीय परिप्रेक्ष्य में कभी सफल नहीं हो सकती । अतः प्राथमिक से उच्च स्तरीय शिक्षा तक सभी में स्थानीय सांस्कृतिक और सामाजिक विशिष्टताओं का समावेश किया जाना जरूरी है । हिमालय सीमान्त क्षेत्रों की अपनी सांस्कृतिक और सामाजिक विशिष्टतांए हैं जिनका पाठ्यक्रम में समन्वय जरूरी है। भोटी भाषा और इसकी लिपि के साथ सीमान्त लोग पूरी भावुकता से जुड़े हुए हैं । अतः इसकी किसी भी दृष्टि से उपेक्षा नहीं की जा सकती । कम से कम माध्यमिक शिक्षा स्तर तक भोटी भाषा और लिपि यहां के लोगों को अनिवार्य रूप से पढ़ाई जानी चाहिये। शिक्षा क्षेत्र में त्रिभाषा फार्मूला निश्चय ही इन लोगों की भावनाओं से खिलवाड़ कर रहा है । आखिर उर्दू भाषा की यहां क्या उपयोगिता है । उर्दू के स्थान पर भोटी भाषा का प्रशिक्षण हर स्थिति में लाभदायक होगा ।

भोटी साहित्य का बौद्ध धर्म की दृष्टि से ही नहीं भारतीय समाज की दृष्टि से भी बहुत बढ़ा महत्व है । अतः सम्बन्धित राज्यों के सभी विश्वविधालयों में भोटी भाषा और साहित्य के विभाग गठित होने चाहिये। इन विभागों में भोटी भाषा और साहित्य के अनुसन्धान की पूरी व्यवस्था होनी चाहिए ।

यह बात निर्विवाद स्वीकार की जाती है कि भारतीय दर्शन और बौद्ध साहित्य की प्राचीन निधियां अभी इन क्षेत्रों में सुरक्षित हैं । सीमान्त प्रदेश की जनता अपने द्वारा हजारों वर्षों से संजोई हुई इस सांस्कृतिक और दर्शन की निधि को पुनः देश को समर्पित करने में समर्थ है । परन्तु खेद है इस ओर हमारा ध्यान नहीं गया है । यदि ध्यान गया भी हो तो इस दिशा में अभी कुछ नहीं किया जा रहा है । भोटी भाषा में ऐसी कृतियां भी सुरक्षित हैं जो अब संस्कृत, प्राकृत, पाली या अपभ्रंश भाषाओं में उपलब्ध नहीं हैं । अतः यह जरूरी है कि ऐसे साहित्य की पहचान की जाए और उसका हिन्दी या अन्य विभिन्न प्रादेशिक भाषाओं में अनुवाद किया जाए और उसका प्रकाशन करके पाठकों तथा साहित्यकारों को उपलब्ध कराया जाए ।

यही नहीं भोटी भाषा में महत्वपूर्ण स्वतन्त्र साहित्य उपलब्ध है । अनेक कृतियां केवल हस्तलेख रूप में सुरक्षित हैं । उनको मूल रूप में प्रकाशित किया जाना चाहिए तथा आने वाले भोटी तथा तिब्बती पाठकों और साहित्यकारों को उपलब्ध कराना चाहिए । तनज्युर और कनज्युर ग्रन्थों को मूल और अनूदित रूप में भारतीय समाज को प्राप्य किया जाना चाहिये।

भोटी भाषा के लोक साहित्य-यथा लोकगीत,लोक कथाओं, लोकोक्तियों आदि के संग्रह तैयार करने चाहिए तथा उन्हें अनुवाद सहित प्रकाशित किया जाना अपेक्षित है । यह हिन्दी जगत के लिये महान देन होगी।

भोटी भाषा के कवियों और लेखकों को प्रोत्साहन दिया जाना जरूरी है । उनके कवि और लेखक सम्मेलन आयोजित किये जाने चाहिये ताकि उनका अपनी भाषा और साहित्य के प्रति अनुराग बना रहे तथा भोटी साहित्य का अधिकाधिक विकास प्रसार हो । भोटी भाषा में आजकल साहित्य-सृजन अत्यन्त जरूरी है ।

भोटी भाषा का सामान्य व्याकरण तैयार किया जाना चाहिए और उसके साथ सामान्य पठनीय सामग्री दे कर पुस्तक रूप में उपलब्ध कराया जाना चाहिये ताकि सामान्य पाठकों की भोटी भाषा और साहित्य के प्रति अभिरूचि पैदा हो ।

इन क्षेत्रों में प्राथमिक कक्षाओं में भोटी भाषा और लिपि अवश्य पढ़ाई जानी चाहिए । शिक्षा का यह मौलिक सिद्धान्त है कि विद्यार्थियों को आरम्भिक शिक्षा मातृ भाषा में दी जाए । ऐसी स्थिति में इन कक्षाओं के लिये भोटी का ज्ञान रखने वाले अध्यापक ही नियुक्त किये जाने चाहिए इन क्षेत्रों के भोटी ज्ञाता युवकों को जे·बी·टी· का प्रशिक्षण दिया जाना चाहिए और विशेष परिस्थितियों में यदि मैट्रिक युवक न मिलें तो आठवीं या नौवीं पास युवकों को ही जिन्हें भोटी का अच्छा ज्ञान हो, जे·बी·टी·प्रशिक्षण देकर इन क्षेत्रों के लिये अध्यापक नियुक्त किया जाना चाहिए । वस्तुतः स्थानीय भाषा, संस्कृति, परम्पराओं और संस्कारों को जानने वाले अध्यापक ही बच्चों की शिक्षा के प्रति प्रभावशाली योगदान दे सकते हैं ।

आधुनिक शिक्षा प्रणाली के लिये पारम्परिक शिक्षा पद्धति को साथ ले कर चलने में ही बेहतरी है । इसलिये गोन्पाओं की मर्यादा बनाए रखनी चाहिए । चूंकि गोन्पाओं की वित्तीय स्थिति कमज़ोर हो गई है, इसलिये उन्हें प्राईवेट कालेजों की तरह ग्राण्ट दी जानी चाहिए और उनमें

पढ़ रहे छात्र-छात्राओं को छात्रवृत्तियां दी जानी चाहिए ।

पारम्परिक शिक्षा के कलापक्ष को बेसिक शिक्षा का आवश्यक अंग बनाया जाना चाहिए । चित्रकला, मूर्तिकला और काष्ठकला बौद्ध पारम्परिक शिक्षा पद्धति की ऐसी विशिष्टताएं हैं जो सीमान्त क्षेत्र में ही नहीं उससे बाहरी क्षेत्रों में भी आकर्षण के केन्द्र हैं । सभी क्षेत्रों के स्कूलों में इन कलाओं में पाठकों को प्रशिक्षण दिया जाना चाहिए । इसी प्रकार संगीत एवं नृत्य निष्पादन कलाओं के प्रोत्साहन के लिये भी आवश्यक कदम उठाए जाने चाहिए । कलाकृतियों और वाद्ययन्त्रों का संग्रहालय स्थापित किया जाना इस दिशा में महत्वपूर्ण कदम होगा ।

उप-निदेशक, भाषा एवं संस्कृति विभाग हि0 प्र0 (सेवानिवृत्त)
सहजराम भवन, मकान स0 26, शिमला- 171002

'किब्बर गांव' (लाहुल-स्पिति)

हिमाचली (पहाड़ी) भाषा का उद्भव और विकास

भाषा लोक-मानस की त्रिवेणी :-

- डॉ० वेद प्रकाश अग्नि

यह ठीक है कि 1 नवम्बर सन् 1966 से हिमाचली भाषा या पहाड़ी भाषा के विषय में कतिपय मंचों पर से आवाज उठाई गई और भाषायी आन्दोलन का रूप प्राप्त हुआ । 'मुण्डे-मुण्डे मतिर्भिन्ना' के अनुसार इस प्रकार के आन्दोलनों के कई लक्ष्य हो सकते हैं। ऐसे लक्ष्यों की अपनी परिसीमाएं और अनुदारताएं होती हैं । लाख-लीपा-पोती करने पर भी उनके वास्तवों से मुनकिर होना तर्क संगत नहीं होता । यहां उनके इतिहास की पृष्ठभूमि का विवेचन-विश्लेषण करना लक्ष्य नहीं है । न उससे किसी भी लोक-भाषा की सारस्वत-महत्ता को समझा जा सकता है । यदि उसे ठीक-ठीक परखना-पहचानना हो तो उसके जन-जीवन से जुड़ाव की जड़ कितनी गहरी है, उसकी छान-बीन करना निहायत जरूरी हो जाता है । किसी भी भाषा की जड़ लोक-मानस के मानसरोवर में हंसवत किसी भी जातीय या जनपदीय जीवन के भाव और विचार मोतियों पर पनपती है। कोई भी भाषा जिस भी जनपद के जन समूह की भाषा है वह वस्तुतः उस जनपद के या जन समूह के लोक-मानस की त्रिवेणी है. जिसके पुनीत जल में अवगाहन व स्नान किये बिना जन-मानस की थाह पाना ही संभव नहीं है अपितु, उससे एक रस होने, उसे दिशा और उचित व्यवस्था देने के भी सभी प्रयत्न विफल मनोरथ होकर रह जाते हैं ।

लोक-भाषा का सतत-प्रवाह -

लोक-मानस की त्रिवेणी जन भाषा का प्रवाह सतत् प्रवाह है । वह बहता निर्मल-गंगा-नीर है जिसमें समय के प्रतिकूल प्रवाह के कई गन्दे नाले मिलकर भी उसकी मूल निर्मलता को विनष्ट नहीं कर पाते हैं । शासन और युगीन व्यवस्थाएं इस अक्षयवट के इर्द-गिर्द अपना जाल फैलाकर अपना स्वार्थ साधती हैं, छाया में विश्राम लेती हैं, पत्ते तोड़ती हैं, टहनियां काटती हैं और कपड़ों की धूल झाड़ कर अपना रास्ता नापती हैं । पर भाषा का अक्षयवट, लोक-मानस के भूगर्भ में गहरा मूलबद्ध हुआ हर पतझड़ के बाद भी अपनी सहज हरियावल से श्रान्त पथिकों को विश्रान्ति प्रदान कर जिजीविषा की नई राहें खोलता रहता है, उसमें नया प्राण-रस डालता है, अमृत-संजीवनी बन उसे नया जीवन देता है । उसकी यह अक्षयधारा शाश्वत स्रोतस्विनी की भांति सदा प्रवाहित रहती है । हिमाचली-पहाड़ी भाषा भी इस प्रकार की अक्षय बाण-गंगधारा है जिसका प्रवाह न जाने कब से

बहता चला आ रहा है ।

पहाड़ी-हिमाचली-आर्य कुल की भाषा

विद्वानों ने भाषा-विज्ञान के विश्लेषण के आधार पर पहाड़ी भाषा को पश्चिमी हिन्दी की जननी शौरसेनी अपभ्रंश से विकसित हुआ स्वीकार किया है । प्रसिद्ध भाषा-विज्ञानी डॉ0 ग्रियर्सन का यह विचार है कि निस्सन्देह कांगड़ा,चम्बा, मण्डी,सुकेत और जम्मू की बोलियां पश्चिमी पहाड़ी से सम्बन्धित हैं । इनमें मण्डी की बोली पंजाबी की अपेक्षा हिन्दुस्तानी के तथा सुकेती बोली हिन्दी के अधिक निकट है । सन्.1881 की मर्दुमशुमारी की रिपोर्ट तथा परवर्ती प्रामाणिक ब्यौरों में भी यह स्पष्ट स्वीकारा गया है कि एक ओर ज़िला सिरमौर से लेकर कांगड़ा तथा दूसरी ओर काश्मीर के भद्रवाह क्षेत्र तक का भू-भाग पश्चिमी पहाड़ी बोली-बोलने का क्षेत्र रहा है । समय परिवर्तन के साथ-साथ कई कारणों से इन जनपदीय बोलियों में यत्किंचित रूपान्तरण के वावजूद इनकी प्रकृति अपनी ही रही है । प्रायः ये सभी बोलियां योगात्मिक अभिरूचि लिये हुए हैं । इनमें अकसर विभक्तियों के रूपों को पृथाक रूप से नहीं बोला जाता जैसा कि अयोगात्मक भाषाओं हिन्दी आदि में किया जाता है । उदाहरण के लिए पहाड़ी भाषा में घरें'नमें 'घरैं' शब्द योगात्मक है, घर में हैं । इस शब्द में सप्तमी विभक्ति 'पद' के साथ जुड़ी हुई है जब कि हिन्दी में 'घर में' का रूप पृथाक्- विभक्ति का है ।

सन् 1966 से हिमाचल प्रदेश के भू-भाग की निर्धारित सीमाओं की भाषा को पहाड़ी नाम दिया गया । दूसरी संज्ञा हिमाचली भाषा निर्धारित की गई । पहाड़ी व पहाड़िया को तिरस्कृत अर्थाक्ता के विष का विस्फूर्जन करते हुए पहाड़ी भाषा के स्थान पर हिमाचली भाषा की संज्ञा को ही सर्व सम्मति से अधिमान प्राप्त हुआ । इस तरह हिमाचली हिमाचल प्रदेश की प्रान्त-भाषा सैद्धातिक रूप में मान ली गई । हिमाचल के पृथाक्-व्यक्तित्व की यह सशक्त कड़ी जहां उसके अस्तित्व का कवच है वहां जन-जन को मानसी गंगा की वास्तविकता की भी स्वीकृति है ।

हिमाचली भाषा-विकास और लिपि का प्रश्न

हिमाचली को राज की जन भाषा के सुघड़ रूप में खड़ा करने का प्रयास किया ही नहीं गया , अब भी जारी है यद्यपि इस सम्बन्ध में लक्ष्य और नीतियां परस्पर विरोधी रही हैं । उनसे हिमाचली में साहित्य-सर्जना को कभी उत्साह और कभी प्राणान्त होने की स्थिति से भी गुजरना पड़ा है । फिर भी हालात निराशाजनक नहीं रहे । छिट-पुट प्रयत्न, चाहे नाम-दाम किसी भी प्रेरण

से हुए, संतोषजनक रहे । उनसे हिमाचली भाषा के रूप-रंग में निखार आया उसकी गति-विधि का क्षितिज विस्तृत हुआ, आगे चलकर उसका संक्षिप्त सर्वेक्षण किया जाएगा । यहां इतना ही लक्ष्य कर देना भर पर्याप्त है कि किसी एक केन्द्रीय बोली की सत्यता को अंगीकार करते हुए भी यह उचित समझा गया कि समस्त जनपदीय बोलियों के युगपत विकास से समय पाकर हिमाचली भाषा का स्वाभाविक विकास हो सकेगा । इससे हिमाचली भाषा के द्रुत विकास में भले ही बाधा आई हो परन्तु दस-दिशाओं से होने वाली छटैरड़ होली से लोगों के कीमती प्राण बच गए । सहज पके सो मीठा होए के कारण सहज ढंग से उभर कर आने वाली हिमाचली भाषा की मधुरता के आसार धुंधलके से बाहर उभरने लगे हैं, यह कोई कम उपलब्धि नहीं है ।

प्रत्येक भाषा को लिखने के लिए उसकी प्रकृति के अनुरूप लिपि की जरूरत होती है । हिमाचली भाषा के लिए भी एक लिपि निश्चित करने की समस्या उठी थी । कुछ लोगों ने लिपि के प्रश्न को लेकर खींच-तान भी की इस संदर्भ में ठाकरी, टांकरी, टक्करी, शारदा और लण्डे आदि लिपियों के पक्ष-प्रति-पक्ष में बहुत कुछ कहा-सुनी हुई और लिखा भी गया । अन्ततः व्यापक राष्ट्र हित तथा वैज्ञानिक औचित्य की दृष्टि से देवनागरी लिपि को ही हिमाचली भाषा की एक मात्र लिपि मान लेने से इस क्षेत्र की बहुत बड़ी समस्या का समाधान हो गया । यहां यह लक्ष्य करने की बात है कि देवनागरी लिपि अत्यन्त सुलझी हुई होने तथा उसमें पर्याप्त ध्वन्यात्मक चिन्ह होते हुए भी हिमाचली भाषा की अनुषंगभूत विविध जनपदीय उपभाषाओं के उच्चारण और शब्दावली को पूर्णतया शुद्ध रूप में लिखने की सामर्थ्य पैदा करने के लिए लिपि-चिन्हों में अपेक्षानुसार परिर्वतन, विकरण की जरूरत होगी । इतना ही विभिन्न जनपदीय बोलियों के लेखकों द्वारा व्यवहृत वर्तनी के रूपों को भी परिनिष्ठित करने की ओर जल्दी से जल्दी ध्यान देने की ही जरूरत नहीं अपितु उसे शीघ्रातिशीघ्र कार्यान्वित करने की भी अनिवार्य अपेक्षा है ।

हिमाचली साहित्य की काल-सीमाएं

हिमाचली भाषा और साहित्य के सम्बन्ध में कुछ कहने से पहले उसके रेखांकन करने वाले काल-खण्ड की सीमाओं पर स्थूल मान से विचार कर लेना होगा । स्थूल मान से इसलिए कहा जा रहा है कि अभी तक हिमाचली भाषा के प्रारंभिक काल-खण्ड की सामग्री की समुचित रीति से छान-बीन नहीं की गई है । इसका बड़ा कारण यह भी है कि यह छान-बीन कहने को जितनी आसान है उतना ही उसका समेटना धीरज और श्रम-साध्य है तथा उसका बिखराव हिमाचल के विविध दुर्गम अंचलो में होने के कारण काफी व्यय-साध्य भी है ।

वर्तमान स्थितियों में इतनी जल्दी वह होने का भी नहीं है । यह सामग्री पढ़ाई - लिखाई से जुड़े परिवारों में पाण्डु-लिपियों के रूप में पड़ी हैं। अन्यत्र इसके कुछ नमूने दिए गए हैं । यह सामग्री विशेषतया शैव-चेतना के उन धार्मिक आन्दोलनों से सम्बन्धित है जिन्होंने लोक-मानस को अपनी सोच का सक्रिय साधन बनाया। इसमें नाथ-पंथीय शैव आन्दोलन ऐसा केन्द्र बिन्दु है जिसके आस-पास हिमाचली साहित्य की गति-विधि गतिशील होती हुई नजर आने लगती है । इसका काल-खण्ड दसवीं-ग्यारहवीं सदी के आस-पास पड़ता है परन्तु उससे पहले भी यह गति-विधि जगत्गुरु शंकराचार्य के श्री विद्या सम्बन्धी प्रचार-प्रसार के साथ जुड़े हुए विचारों से सम्बद्ध है। इस तरह छठी शताब्दी के अन्तिम चरण और सातवीं शताब्दी के शुरूआत से हिमाचली-साहित्य का लोक-मानसी प्रवाह अपनी सहज गति से धारावाहिक रूप में प्रवाहित होता है[1]। इन दोनों काल-खण्डों का मध्यवर्ती समय बौद्ध-चेतना से प्रभावित है जिसका पाण्डुलिपिकरण कुल्लू तथा लाहौल-स्पिति के ऊपरी भू-भाग में हुआ है । इससे पहले के हिमाचली लोक-साहित्य की भाव-भूमि राज पृथु और वेण के काल से जुड़ी हुई होने तथा त्रिगत और कुलूत प्रदेश का उससे गहरा सम्बन्ध होने के कारण अपनी मूल-चेतन धारा में वैदिक -कालीन आचार-विचार से जुड़ी हुई है जिसकी पर्याप्त छाया हमारे लोक-गीतों, और गाथा-काव्यों पर है । इस तरह यह स्पष्ट है कि जो वैदिक चेतना शंकराचार्य के हाथों लोकमानसी गंगा बनकर छठी शताब्दी के अन्तिम चरण में हिमाचल में प्रवाहित हुई आठवीं, नवमी शताब्दी से लेकर दसवीं, ग्यारहवीं शताब्दी तक नाथ-पंथीय तथा गुसाईं शैवधारा से हिमाचली लोक मानस को आन्दोलित करती रही और बाद के वैष्णव भक्ति आन्दोलन से प्रभावित हुई उसी ने हिमाचली लोक-साहित्य का परिपोषण किया । इस तरह अध्ययन की सुविधा की दृष्टि से हिमाचली साहित्य के उद्गम विकास की सीमाओं का आकलन इस रूप में किया जा सकता है।

§क§ शंकराचार्य पूर्व वैदिक चेतना काल-खण्ड छठी, सातवीं शताब्दी :- इसके अन्तर्गत उन जनपदीय बोलियों और लोक-साहित्य का सर्वेक्षण-आंकलन अपेक्षित है जिनमें आज भी संस्कृत-शब्दावली प्रचुर तथा 'नुआला' आदि वैदिक-संस्कार प्रचुर मात्रा में मिलते हैं ।

§ख§ शंकराचार्य कालीन शैव-चेतना काल-खण्ड सातवीं शताब्दी से दसवीं शताब्दी ।

§ग§ नाथ व गुसाईं पंथीय - पूर्वार्द्ध शैव-चेतना काल-खण्ड- दसवीं शताब्दी से तेरहवीं शताब्दी :- इसके अन्तर्गत उस समस्त हिमाचली साहित्य की चेतना आ जाती है जो विविध-सिद्धों, गूगा आदि पीरों, भर्तृ आदि नाथ जोगियों की लोक-गाथाओं से सम्बद्ध हैं ।

---

1 विस्तार के लिए दे0 हिमाचली भाषा, लिपि तथा गद्य साहित्य हिमभारती, सितम्बर, 1970 .

§घ§ वैष्णव-भक्ति चेतना-काल खण्ड तेरहवीं शताब्दी से अठारहवीं शताब्दी

§ङ§ विविध--मानसी चेतन धारा काल-खण्ड अठारहवीं -शताब्दी से उन्नीसवीं शताब्दी के छठे दशाब्द तक § :-

इस काल खण्ड की लोक-साहित्य की धारा उन लोक-गीतों से सम्बन्धित है जो विविध समाज-सुधार और सांस्कृतिक आन्दोलनों से सम्बन्धित हैं और जिस सामग्री का आंकलन अभी .तक नहीं हुआ है, मात्र पहाड़ी गांधी बाबा कांशी राम की रचनाओं का संकलन इस क्षेत्र का अपवाद स्वरूप है। अन्यथा सन् 1920 से प्रकाशित लाहौर की पत्रिका गुरु घंटाल, दैनिक-मिलाप तथा परवर्ती व तस्वीर कांगड़ा-वैली, जन्मभूमि आदि पत्रिकाओं में इस लोक- मानस चेतना का स्वरूप उभर - उभर कर आया है जिस पर आधारित लोक-साहित्य लोक मानस का पोषक बना। उसे समेटे- समझे बिना हिमाचली भाषा के उद्गम विकास का विचार और लेखन अधूरा ही माना जायेगा । इस प्रकार छठी शताब्दी से लेकर आज तक बराबर हिमाचली साहित्य की लोक-धारा और 1 नवम्बर सन् 1966 से विधि-वत् साहित्य धारा का प्रवाह चला आ रहा है।

हिमाचली साहित्य का उद्गम :-

हिमाचली-साहित्य का उद्गम वैदिक कालीन मानसिकता से हुआ जब वसिष्ठ, भारद्वाज, अंगिरा, अगस्त, व्यास आदि ने इस धरती पर रहकर अपने विचार-तत्व का प्रचार-प्रसार किया । ये ही विचार-तत्व, रहन-सहन और व्यवहार के तौर-तरीके हिमाचल के जन जीवन में ढलकर यहां की जीवन पद्धति का अविछिन्न अंग बन गये और अक्षय-परम्परा धारा के रूप में यहां की संस्कार-रीतियों के साम् वेदी स्वरों में मुखरित हुए । यद्यपि विविध जनपदीय इन संस्कार-गीतियों में काल-प्रवाह के साथ-साथ भाषा का पर्याप्त रूपान्तरण हुआ है परन्तु उनका नाराशंसीय रूप, जिसकी विविध स्वर-लहरियों का संकलन सामवेद में हुआ है, का अधिकांश रूप आज भी हिमाचल के विविध जनपदीय क्षेत्र की इन गीतियों में, या इस प्रकार के गीति उत्सवों यथा ढोलरू, श्रावण-सैर-माघ महीने की हरिणा आदि गीतियों में पूर्णतया सुरक्षित है। इसका एक गाथात्मक रूप भी है । इसके अन्तर्गत श्रवण-कथा, कृष्ण-लीला, भर्तृहरि, गूगा या इसी प्रकार की अन्य गाथाएं ग्रहण की जा सकती हैं । यहां एक बात और ध्यान में रखने की है कि इन संस्कार-गीतियों और गाथाओं में पर्याप्त मात्रा में ऐसे मूल शब्द, प्राकृत या अपभ्रंश भी बचे हुए हैं जिनसे कुछ परिश्रम करके

काल-खण्ड के स्वरूप का अनुपान अधिक शुद्धता के साथ किया जा सकता है। जनपदीय भाषा की दृष्टि से ऊपरी हिमाचल की बोलियों में पंजाब विश्वविद्यालय के डॉ0 डी0डी0 शर्मा का किया गया प्रयास इस दिशा में मार्ग-दर्शन का कार्य कर सकता है जबकि उन्होंने यह लक्ष्य किया है कि कभी इन जनपदों की भाषा, साहित्यिक नहीं,तो लौकिक संस्कृत रही होगी। इस प्रकार 16 कार्तिक सं० 2023 से पूर्व का हिमाचली का साहित्य लोक-मानसी गंगधारा का साहित्य है जिसे अध्ययन की सुविधा की दृष्टि से इस प्रकार बांटा जा सकता है --

लोक-काव्यः- इसके अन्तर्गत लोक-गीतों और लोक-गाथाओं की गणना की जा सकती है । लोक-गीतों में संस्कार-गीत हैं,प्रेमगीत हैं,शौर्य और पराक्रम से सम्बन्धित घटनाओं से जुड़े हुए गीत हैं ।

लोक-काव्य के संग्रह, संधान, विवेचन-विश्लेषण की ओर श्लाघनीय प्रयत्न हुआ है। इस क्षेत्र में लाहौल स्पिति के लोक-गीतों के अध्ययन में डॉ0 बंशी राम शर्मा, सिरमौरी लोक-गीतों के विश्लेषण में डॉ0 खुशीराम गौतम, कुल्लू के लोक साहित्य के अध्ययन में डॉ0 पद्म चंद्र कश्यप, मण्डयाली लोक-गीतों के अनुशीलन में डॉ0कांशी राम आत्रेय, कांगड़ी लोक-साहित्य के विधिवत विवेचन विश्लेषण में डॉ0 गौतम-व्यथित का प्रयास विशेष उल्लेखनीय है।

लोक-गाथा--

इसके अन्तर्गत लोक-गाथाओं का संग्रह हुआ है। इस विषय में विशेषतया हिमाचल कला,संस्कृति और भाषा अकादमी के प्रयास सर्वोपरि रहे हैं सिरमौर में प्रचलित लामण{प्रेम गाथाओं{प्रायः सारे हिमाचल में गाई जाने वाली जाहरपीर गूगा की गाथा , भर्तृहरि की गाथा।

लोक-कथाएंः-

हिमाचली-साहित्य की गति-विधि तथा लोक-मानस की परख-पहचान की दृष्टि से लोक-कथाओं के संग्रह का प्रयास हुआ है । जन-साहित्य के हिमाचल लोक संस्कृति और साहित्य अंक में पहली बार इस दिशा में प्रयास हुआ था कांगड़ा जनपद की लोक-कथाओं के विश्लेषणात्मक अध्ययन की ओर ध्यान दिया गया। बाद में हिमभारती तथा स्वतन्त्र प्रयत्नों द्वारा भी लोक-कथाओं के संग्रह के प्रयत्न हुए। डॉ0 गौतम व्यथित का पहला संकलन 'पहाड़ा दे अथरू' इसी प्रकार का पहला संकलन था। बाद में 'नौ लखिया हार' आदि संग्रह भी प्रकाशित हुए। हिमाचल की लोक-कथाओं का एक बृहत-संकलन हिमाचल कला, संस्कृति भाषा अकादमीः द्वारा भी प्रकाशित हुआ । ये प्रयत्न अपने आप में महत्व पूर्ण होते हुए भी हिमाचल की समूची लोक- कथाओं के संग्रह नहीं हैं । छुट-पुट प्रयत्न कहे जा सकते हैं। सम्पूर्ण जनपदों में लोक-मानस में कलोल कर रही कथाएं न जाने इतिहास-विधाता के किन-किन पटलों की तहों को खोलती है,इस दृष्टि से उनका महत्व है और उनके संग्रह की भी आवश्यकता है ।

गद्य रचनाएं :-

हिमाचल भाषा की गद्य-रचनाएं यद्यपि साहित्यिक दृष्टि से विशेष महत्व नहीं रखती हैं । इनका लोकोपयोगी स्वरूप फिर भी कुछ दृष्टियों से अत्यन्त महत्वपूर्ण है । जहां एक ओर संस्कार-गीतों , लोक-गाथाओं तथा लोक-कथाओं का स्वरूप कथ्य की दृष्टि से बहुत कुछ स्थिर रहा है, पीढ़ी-दर-पीढ़ी मौखिक परम्परा से उसका गति-चक्र अग्रसर हुआ है, इससे उसमें भाषायी तथा प्रकथनात्मक स्तर पर काल-क्रमानुसार परिवर्तन तो हुआ ही है साथ ही कुछ कमीपेशी भी हुई है, वहां दूसरी ओर लोकोपयोगी गद्य-साहित्य अपने मूल रूप में काफी हद तक सुरक्षित रहा है । उसमें कथ्य और शिल्पबानगी की दृष्टि से विशेष परिवर्तन नहीं हुआ है। जहां तक पारिभाषिक शब्दावली का सम्बन्ध है उनकी मूलतः सुरक्षा हुई है। उस शब्दावली में ऐसे शब्द प्रचुर मात्रा में है जिनके तुलनात्मक अनुशीलन पर से यह बात निश्चित प्रतीत होती है कि हिमाचली में गद्य-रचनाओं की शुरूआत सातवीं शताब्दी के प्रारम्भ में अवश्य ही हो चुकी होगी तथा नवमी शताब्दी से लेकर ग्यारहवीं शताब्दी के नाथ-पंथीय गति-विधि के काल तक ये रचनाएं रूपान्तरण की प्रक्रिया से गुजरती हुई हिमाचली गद्य के स्वरूप को जनपदीय बोलियों की गद्यात्मक बानगी में डाल रही थी । गद्य की ये रचनाएं प्रायः धर्म,आयुर्वेद, कर्म काण्ड और ज्योतिष से सम्बन्धित हैं ।

धार्मिक गद्य-रचनाओं में अधिकांश जो पाण्डुलिपियां शैव-शाक्त तत्व-चिन्तन से सम्बन्धित हैं,निश्चय ही उनकी शुरूआत बौद्ध कालीन तथा परवर्ती गोरख-पन्थी आन्दोलनों के युग में हुई होगी जब तत्व-बोध और उससे जुड़ी हुई लोकोपयोगी सामग्री को जन साधारण तक ले जाने का प्रबल संकल्प उठ खड़ा हुआ था। ऐसी गद्य-रचनाओं का सम्बंध शावर मन्त्रों से भी जुड़ा हुआ है। नीचे इसी प्रकार के गद्य के दो उदाहरण दिये जाते हैं जो 'श्री-विविध-विधान' सम्बन्धी पाण्डुलिपि से पं0 खेमराज पाप-अर्गला निवासी के सौजन्य से प्राप्त हुआ। इसे किसी अज्ञातनामा पंडित ने सं0 1864 में तीन चार सौ साल हाथों से कूट कर बनाए हुए कागज़ में की गई प्रतिलिपि से प्रतिलिपि किया।

अथ नौ नाथ लिष्यते ।।

मछिन्दरनाथ की रक्षा, मीननाथ की रक्षा ।। गौरखनाथ की रक्षा, चोरागीनाथ की रक्षा X।। कुलनाथ की रक्षा, संतोषनाथ की रक्षा।। मन सन्तोषनाथ की रक्षा X।। .....वामन नाथ की रक्षा । वाराहानामा नाथ की रक्षा ।। पृ025

यह विस्तार रक्षा-मन्त्र से जुड़ा हुआ है । इस प्रकार 'अष्ट भैरों लिख्यते' प्रकरण में निसर्ग की विस्तृत चर्चा की गई है। गद्य की बानगी इस प्रकार है-

पहले पाहरे आनन्द भैरों जिनी तीन भुवन शिरजे। दूजे पाहरे महादेयो भैरों जीनी देव दानो गन्धर्व, किन्नर शिरजया .... "एतरानि भेरो जापते त मोष मुक्ति पाए बलिभषा वलरषा एतानि अष्ट भेरों, ना नाथ, चौरासिसिद्द क्षेत्रपाल, चौसठजोगिनी उंचास विर की रषजे करति ......।"

इसमें पाहरे, महादेयो, एतरानि, चौरासीसिद्द आदि शब्दों का अनुशीलन भाषा-विज्ञान की ऐतिहासिक दीप्ति के बोध की दृष्टि से महत्वपूर्ण है।

यहां पर गूगा से सम्बन्धित एक उदाहरण से यह स्पष्ट हो जाएगा कि गोरक्षनाथ के समकालीन गूगा जाहर-पीर से सम्बन्धित गद्य-रचनाओं की शुरूआत नवमी शती में हो चुकी होगी। 'गूगे की विसौलियों' द्वारा विष-शमन का अनुभव लोक-मानस को बहुत पुराना है । एक अन्य स्त्रोत से प्राप्त एतद्सम्बन्धी रचनाओं में से और दिये गए अपने अभिवचन को मद्दे-नज़र रखते हुए यहां गोपनीय गद्यांस को न लिखकर मात्र-मण्डल पाठ के गद्यांस को ही उदाहरण स्वरूप प्रस्तुत किया जा रहा है--श्री गूगा उदाय राय ।।?।। श्री देव राय ।।?।। श्री धाधा राय....।। श्री आहूलराय ।। ।। श्री चहूलराय ।। इतिवार मण्डलीक नम लीषे गुगेदा गौंईं को जल ।।

गुगे कीया बसौलिया पृ० 19-20

विश्वाची' एक असाध्य और भयंकर पीड़ाकर बाहुरोग है आयुर्वेद से सम्बन्धित एक ग्रंथ का पाण्डुलिपि में अन्य नियमों के आचरण द्वारा इसके शमन का यह मन्त्र दिया गया है ।

"ॐ चंद्रमिलि सूर्यमीली कुरु-कुरु स्वाह' बेरा।।7।। पाणी मन्त्री देणा।। हाथि भी धोणिया पीणा भी सुष होवे"।।

रसायन-शास्त्र के सन्दर्भ में प्राप्त पाण्डुलिपियों में यहां मात्र रसेश्वर-संप्रदाय से सम्बद्ध पाण्डुलिपि में से एक उदाहरण हिमाचली गद्य का प्रस्तुत किया जाता है।

अथ बंगमारण-विधिः- कलिसेर। सोराकलमी सेर2 ठिकरे बिचपाई हेठ अगदेइ कामले दिर्या लकड़िया दिया अग्गा राड़ देणी भस्म होए ता पाणि पाई नितारि टिकि करि भी ठिकरे च रखे, बंड़ि दे पत्रम ते हेठ रषि अगहेठ देणी पाणि कने पिहो ठंठि करणी, से जले ता गिलोई चुथि जालनी, इतेविधि वसुटिया दे पत्र भी, कुआरें भी मरोलि भी निमेदे पत्र भी चिरायता भी, फुटकंडे दे रसे च टिकि करे भी बड़ि दे पत्र पाई जाले भी भांडे बिंच पाई गजपुठ आगा देणा, मात्रर -।....।। सार-विधि ग्रन्थ की पाण्डुलिपि से।

शैव-परम्परा से सम्बन्धित शावर मन्त्रात्मक गद्य का एक और उदाहरण प्रस्तुत किया जाता है:-

ऊँ गुरु जी सुरेगेते उतरी माया, ब्रह्मा, विष्णु महेस जाया, हाड-मास की मढ़ी सबन की काया, गले न चाम थिर रहे काया, त्रयकाल गायत्री गौरा देवी पार्वती । महादेयोतें लेई उतरी, कुत तें उतरी गौरा देवी पार्वती, कुल्थीते उतरी सुरा गऊ,कंठेते उतरी गौरां देवी पार्वती, सिरेंते उतरी सुरागऊ। इक जाया रूपवन्ती „ सतजाए गर्भवन्ती , तिन्नजाए सीलवन्ती , श्री कृष्ण जी ते पाके हुए । अनीलो माया मात्रम्, सारेया दा लेख गौरांकीता, गर्भनिया पुतर लुकाई रखिया, पार उतरना, एपिण्डडा घोर पिण्ड पड़न्ती वरमा, विष्णु, महादेयों साक्षी होए तेरा दिया सिव पुरी में वास, इसा काया जो कार्दन औए काल -फांस त्रय काल गायत्रीजप सम्पूर्ण होया ।।

हिमाचली गद्य-साहित्य का उद्गम काल

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि हिमाचली गद्य-रचनाओं का क्षेत्र लोक-जीवन की सर्व समावेशी मांगलिक गति-विधियों से जुड़ा हुआ है । इसकी रचना के कालखण्ड का संकेत ऊपर सातवीं-आठवीं शताब्दी से किया जा चुका है । इस विषय में कोई भी अन्तिम बात तब तक कहना ठीक नहीं होगा जब तक कि हिमाचली भाषा के समस्त जनपदीय बोलियों से सम्बन्धित शैव शाक्त वैष्णव और बौद्ध धाराओं की गद्य रचनाओं की पर्याप्त सामग्री सामने नहीं आ जाती है । ऊपर जितने भी मुद्दे उठाए गए हैं वह हिमाचल परिक्षेत्र में होने वाले उसी विचार-मन्थन से सम्बद्ध हैं जिनकी अविच्छिन्न परम्परा दीर्घकालीन रही है और उसका बहुत सा रूप अभी तक, इन परम्पराओं के इतिहास से जुड़े परिवारों में धरोहर के रूप में पड़ा हुआ है, अभी विकृत नहीं हुआ है । इस दिशा में जो भी प्रयास हुए हैं वे अपर्याप्त हैं। इस क्षेत्र में जितना काम करने का अवसर इन पंक्तियों के लेखक को हुआ है उस पर से यह निष्कर्ष निकलता है कि प्रकाशित सामग्री की तुलना में ढेर सारी अप्रकाशित सामग्री हिमाचल के नाना स्थानों पर बिखरी पड़ी है उसके गद्य का साहित्यिक महत्व आजकी दृष्टि से भले ही न हो परन्तु भाषा-विज्ञान और लोकोपयोगी समाज शास्त्र, इतिहास की दृष्टि से महत्वपूर्ण है । उसके अनुशीलन से हिमाचल भाषा के प्रारम्भ के सुनिश्चित काल-खण्ड का प्रश्न भी समाधान पा जाएगा और प्रामाणिक युक्ति संगत ढंग से ।

16 कार्तिक सं० 2023 तथा हिमाचली साहित्य का विकास

16 कार्तिक सं0 2023 (1 नवम्बर सन् 1966) से हिमाचली भाषा में साहित्य-सर्जना के भाव को निश्चय ही एक राजनीतिक मनोबल प्राप्त हुआ ।

इससे हिमाचली भाषा में साहित्यिक गति-विधि शुरू हुई । इसका यह अर्थ नहीं है कि सं0 2023 से पहले इन भाषाओं में कुछ भी रचा ही नहीं गया । अपनी बदली हुई स्थितियों के प्रति जन-जीवन और लोक मानस सदैव ही प्रतिक्रिया सक्षम और जागरूक रहा है और सर्जनशील भी । भले ही उन काल-खण्डों की सर्जनशीलता अधिकांश काल-विधाता के गर्भ में लीन हो गई हो, तो आश्चर्य क्या। फिर भी उसमें कुछ न कुछ बच भी जाता है । कांगड़ा क्षेत्र में राम सिंह पठानिया जोर लड़िया ऐसा ही कालजमी लोक मानसी सर्जन-शीलता थी, भर्तृहरि, गूगापीर आदि की गाथाएं इसी श्रेणी में आती हैं । बुंदेले हर बोलों के मुख रानी झांसी की गाथा ऐसी ही सर्जना थी । सन् 1966 से पूर्व आर्य समाज सुधार-चेतना से लेकर स्वतन्त्रता-संग्राम के संघर्ष की चेतना को लेकर अनेक ज्ञात-अज्ञात नामा कवियों, लेखकों ने इस लोक मानसी गंगा को प्रवाहित किया है । उसमें पहाड़ी गांधी बाबा कांशी राम की रचनाएं सन् 1966 से पूर्व की है । ऐसी रचनाएं हिमाचल की अन्य जनपदीय बोलियों में भी रही होगी । उनके संकलन, परिचय और विमर्श के बिना हिमाचल साहित्य अधूरा ही गिना जाएगा । इस ओर संकलनात्मक प्रयास होने चाहिएं ।

सं0 2023 के पश्चात् हिमाचली साहित्य को एक गतिमान आन्दोलन देने का प्रयास स्व0 डॉ0 परमार, चान्दकुलुवी के मार्गदर्शन में हुआ । हिमाचली भाषा के पनपने की अनेक समस्याओं को ध्यान में रखते हुए सावधानी पूर्वक उसकी नाव को तट तंक ले जाने के प्रयास हुए । भाषा के पहले दौर में जन-मानस को जागरूक करने के लिए स्थानीय भाषाओं में कविता-पाठों को प्रश्रेय दिया गया । लोगों ने ऐसे प्रयासों का हार्दिक स्वागत किया । कवियों का मनोबल भी बढ़ा । परिणाम स्वरूप विभिन्न बोलियों में काव्य-रचनाएं दिखाई पड़ीं । इनमें डॉ॰ व्यथित की चेते, डॉ0 पीयूष गुलेरी की मेरा देश म्हाचल, जयदेव किरण की पात्थारो रा माहणू आदि की धूम रही । बाद में तो हिमाचली ग़ज़ल, गीत की शुरूआत हुई। इस क्षेत्र में सागर पालमपुरी , प्रीतम चन्द प्रीतम, डॉ0 व्यथित, प्रेम भारद्वाज आदि के प्रयास विशेष लोकप्रिय हुए । पिछले दो ढाई दशाब्दियों में बावजूद प्रचुर रचना- धर्मिता को समस्त रचनाएं एक निश्चित परिनिष्ठित स्तर की नहीं कही जा सकती परन्तु ऐसा भी नहीं कहा जा सकता है कि इन रचनाओं में कथ्य और शिल्प की दृष्टि से उत्तरोतर निखार ओर परिक्वता न आई हो ।कुछ कवियों ने नये प्रयोग किये हैं, भाषा-रंगत को भी नया जामा पहनाया है उसे लचीलेपन के सांचे मे ढाला गया है उसमें न तो अब सन् 1966 के पहले दशाब्द की अर्थहीन तुकबन्दी, न बेसुरापन रहा है। उसमें समकालीन जागरूक साहित्य की अपेक्षाओं के प्रति उत्तरदायित्व की

भावना सजग हुई है । कुछ रचनाओं में आधुनिक मूल्य-बोध को व्यर्थ में ही अपने ऊपर ओढ़ने का प्रयास हुआ भी मिलता है। सम्बन्धों की मृत्यु-मृत्यु बोध आदि को लेकर रची गई हिमाचली कविताएं वस्तुतः आरोप-भाव वाली लगती हैं । उनमें धरती के जीवन की गन्ध नहीं हैं परन्तु जहां-जहां कवि ने धरती की बदली हुई मानसिकता को गोहराया है, वहां पर ये कविताएं खिल उठी हैं और प्रभावशाली भी बन गई हैं । इस क्षेत्र में शेष अवस्थी नवीन हलदूणवी, संसार चन्द प्रभाकर गौतम व्यथित, द्विजेन्द्र 'द्विज' सागर पालमपुरी प्रीतम चन्द 'प्रीतम' के प्रयास विशेष उल्लेखनीय हैं । शेष अवस्थी की ग़ज़लों में एक तीखा चुभतापन सर्वसमावेशी सामाजिक दायित्व की जागरूकता को लिए हुए अन्तराल में पारमार्थिक मूल्यों की चेतना को विस्मृत नहीं करता । इसी में अवस्थी के ग़ज़ल की सशक्त चेतना विद्यमान है।

हिमाचली भाषा के गद्य के क्षेत्र में भी विकास के अनवरत प्रयास चल रहे हैं । इस दिशा में हिमाचल कला-संस्कृति भाषा अकादमी की भूमिका महत्वपूर्ण रही है । 'हिमभारती' के माध्यम से हिमाचली गद्य के सर्वांगीण विकास की ओर ध्यान दिया गया । इस दिशा में प्रसूति-वेदना की नाना-जोखिम को झेलता हुआ हिमाचली भाषा का अनेक पक्षीय गद्य-साहित्य का स्वरूप उभरा । अकादमी के प्रथम सचिव स्व0 हरिचन्द पराशर ने विषपायी नीलकण्ठ की भांति न जाने इस क्षेत्र को उर्वरा बनाने के लिए कितनी ही दिशाओं को समुद्र मन्थान से उमड़कर आने वाली काल-कूट विष-ज्वाला को पीकर हिमाचली गद्य-साहित्य को विकसित करने में बुनियादी हैसीयत की भूमिका निभाई । यहां पर यह लक्ष्य करने की बात है कि कोई भी भाषा, विशेषकर आज के युग में, गद्य के पुष्ट आधार के बिना जीवित नहीं रह सकती, न लोक-प्रिय ही हो सकती है । इस तथ्य को अच्छी तरह समझते हुए स्व0 पराशर जी ने निहित स्वार्थी तत्वों के कटु-आक्षेप 'पराशर जी नयी भाषा {या पराशरी भाषा} घड़ने जा रहे है' के बावजूद हिमाचली गद्य के विविध- विधाओं के क्षेत्र में विकास के हेतु पर कस कर जोर दिया । फलतः इस दिशा में अप्रत्याशित विकास के लक्षण दिखाई पड़ने लगे । अविश्वास और निराशा की मानसिकता का कोहरा छटने लगा तथा लोक-संस्कृति से जुड़े सन्दर्भों के लेखों में ही हिमाचली गद्य की विविधतापूर्ण बानगी दिखाई नहीं पड़ी अपितु निबन्ध, कहानी, नाटक, एकांकी, संस्मरण तथा आलोचना के क्षेत्र में भी गद्यात्मक रचनाएं सामने आने लगीं । उत्तरोत्तर यह बात जाहिर होने लगी कि हिमाचली गद्य-रचना में आत्माभिव्यंजना की पूरी क्षमता है । कुछ निबन्ध ऐसे भी थे जो मौलिकता, विषय-चयन निबन्ध-शिल्प की दृष्टि से महत्वपूर्ण थे। ऐसे निबन्धों को मजे से किसी भी विकसित भाषा के निबन्धों की टक्कर में रखा जा सकता है । ऐसे निबन्धों में माहणू चाइदे डिफेनि, टलखेरूए दा

अब, कला फणसोणेदि, कराया कितनाक, भत्ते दा महातम आदि उल्लेखनीय है हिमाचली कहानीकारों ने हिमाचली भाषा में कहानियां लिखकर इस गद्य विधा को पुष्ट किया । इस दिशा में वैद्य किशोरी लाल, सुशील कुमार फुल्ल, अनिल राकेशी, गौतम व्यथित, पीयूष गुलेरी, प्रत्यूष गुलेरी ,प्रो0 कायस्था , शिव उपाध्याय आदि कितने ही कहानीकारों ने हिमाचली जन-जीवन की अवस्था और समस्याओं को अपनी कहानियों का विषय बनाया । इन कहानियों में यहां के जीवन की कठिनाईयों,प्राकृतिक परिवेश की मनोहरता, आंचलिक विशिष्टता आदि की दृष्टि से कहानियां, बावजूद अधिकांश कथाएं कथाशिल्प की कसौटी पर बहुत खरी न उतरी हुई भी कथ्य की दृष्टि से तथा हिमाचली भाषा के गद्य के विकास की महत्वपूर्ण कड़ी होने के कारण साहित्यिक महत्व के साथ-साथ ऐतिहासिक महत्व रखती हैं ।

कहानी ही नहीं, उपन्यास के क्षेत्र में भी प्रयास हुए हैं परन्तु अभी तक कथ्य शिल्प की दृष्टि से कोई ऐसी रचना सामने नहीं आई है जिसे विशेष उल्लेखनीय कहा जा सके । नाटक तथा एकांकी के प्रयत्नों को सोलह-सिंगी तथा दृश्यावली में प्रतिनिधि संकलनो के रूप में एकत्रित किया गया है । एकांकियों में डॉ0 आत्मा राम दलीप चन्द वर्मा, नरेन्द्र अरूण के प्रयास विशेष साहित्यिक कहे जा सकते हैं । संस्मरणों की मात्रा अपेक्षाकृत कम रही है । जो छुट-पुट प्रयत्न हुए हैं उनमें संस्मरणात्मक तत्व और अभिव्यंजना के तौर-तरीकों के विकास की अधिक गुंजाइश है ।

इसके अतिरक्त गद्य के विकास को प्रेरणा देने के लिए प्रसिद्ध कवियों तथा लेखकों कहानीकारों की रचनाओं को हिमाचली भाषा में अनूदित करने के भी प्रयास किये गये हैं। संस्कृत के कालीदास आदि की रचनाओं का पहाड़ी में अनुवाद हुआ है । चन्द्रधर शर्मा गुलेरी की कहानी 'उसने कहा था' पहाड़ी में अनुदित हो चुकी है । अंग्रेज़ी के मुल्खराज आनन्द प्रभृति कथाकारों की कहानियों के अनुवाद भी किये गये हैं । इस क्षेत्र में और भी प्रयास चल रहे हैं । गत कुछ वर्षों में हिमाचली भाषा के प्रति उदासीनता के रूख ने इस गति को मंद अवश्य किया परन्तु जल्दी ही कर्ता-धर्ता लोगों को अपनी भूल का एहसास होने लगा और भूल सुधार के प्रयत्न भी होने लगे हैं। इससे हिमाचली भाषा के खेमे में नया उत्साह फिर गतिमान होने लगा है। यदि यह उत्साह तत्परता पूर्ण बना रहा तो हिमाचली साहित्यिक विकास का गतिचरण विलम्बित का राग छोड़कर द्रुत गाने लग जाएगा ।

जाहिर है कि हिमाचली भाषा का प्रारम्भ सातवीं-आठवीं शताब्दी के उन लोक-आन्दोलनों से हुआ जो बुद्ध के उतराधिकारी थे या जिनकी प्रतिक्रिया

में नाथ सिद्ध पंथीय आन्दोलनों का प्रारम्भ हुआ । इन आन्दोलनों, परस्पर आदान-प्रदान के साधनभूत भाषा को लोक भाषा की सत्यता के स्तर पर अंगीकार किया । उसमें जहां एक ओर लोक-काव्य, संस्कार गीतियों, लोक-शिक्षण व लोक-रंजन की वाहक लोक कथाओं का विकास हुआ वहां दूसरी ओर लोक-चेतना रंजक लोकोपयोगी धार्मिक, आयुर्वेदिक, ज्योतिषपरक गद्य-रचनाओं का विकास उसी समय से होना शुरू हुआ जिस समय से शौरसेनी प्राकृत की पश्चिमीय क्षेत्रीय धारा शौरसेनी अपभ्रंश और उससे निकली पश्चिमी पहाड़ी या हिमाचली भाषा के विकास की शुरूआत हुई । इसी भाषा में बौद्ध-सिद्धों तथा परवर्ती नाथ-पंथीय महात्माओं ने जन-जीवन में अपनी साख जमाने के लिए लोकोपयोगी गद्य में रचनाएं कीं । यह काल ही हिमाचली भाषा के उद्‌गम का काल था जिसका प्रारम्भ सातवीं-आठवीं शताब्दी में हो गया था ।

इस काल से लेकर कार्तिक सं·2023 तक का हिमाचली-साहित्य लोक-साहित्य की नाना-विधाओं का ही साहित्य कहा जाएगा । सं0 2023 से पहले स0 1980 से 2023 तक का साहित्य भारतीय स्वतंत्रता-संग्राम का हिमाचली साहित्य कहा जा सकता है । शेष विधिवत हिमाचली साहित्य का आरम्भ सं0 2023 से मानना ही समीचीन लगता है । पिछले बीस वर्षों में इस क्षेत्र में सन्तोषजनक प्रगति हुई है उसका भविष्य असंदिग्ध है ।

प्राचार्य, राजकीय महाविद्यालय

हमीरपुर, हिं0 प्र0

चम्बा संग्रहालय में सुरक्षित धातुमूर्ति

किन्नर संस्कृति में बन्धुत्ववाची शब्दावली

-प्रो० डी० डी० शर्मा

संस्कृति चाहे रूपात्मक हो या अरूपात्मक, भौतिक हो या आध्यात्मिक सभी का भाषा के साथ अभिन्न सम्बन्ध होता है । भाषा संस्कृति का अंग भी होती है और अंगी भी । यही उसके विविध रूपों एवं संकल्पनाओं के संकेत बोध का आधार होती है तथा उन्हें एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को हस्तान्तरित करने में सहायक भी । प्रत्येक भाषिक समुदाय की भाषा में उसकी संकेतक ध्वनियों तथा उनसे संकेतित वस्तु के बीच एक ऐसा आन्तरिक सम्बन्ध होता है जिससें शब्द विशेष के श्रवण मात्र से ही सन्दर्भगत वस्तु विशेष अथवा संकल्पना विशेषरूपक अथवा भाव श्रोता के समक्ष प्रत्यक्ष हो उठता है। अतः भाषा न केवल समुदाय विशेष के सदस्यों के बीच होने वाले वाग्व्यवहार या भाव संचार का माध्यम ही होती है ,अपितु उसके प्रयोक्ताओं की सांस्कृतिक निधि तथा ऐतिहासिक पृष्ठभूमि की संरक्षिका भी होती है ।

प्रो0 आर0सी0ट्रेंच के अनुसार "भाषा किसी राष्ट्र या समुदाय के लोगों की नैतिकता का मापक यन्त्र है जो कि स्थायी एवं विश्वसनीय रूप से उसके उत्थान पतन की सूचना देती है । किन्हीं लोगों की भाषा के अध्ययन का अभिप्राय है उन लोगों की जीवन पद्धति का अध्ययन ऐसे रूप में करना जहां कि वह अपने आप को किसी प्रकार छिपाने का यत्न किये बिना अपने असली रूप में हमारे सम्मुख प्रस्तुत होती है । ऐसे अनेक सामाजिक रीति-रिवाजों तथा विधि-अनुष्ठानों को उस भाषा की शब्दावली के माध्यम से देखा जा सकता है जो कि अन्यथा अतीत की वस्तु बन चुके होते हैं । {1979:81}" प्रो0 ट्रेंच के इस कथन में कितनी यथार्थता है इसे हम स्वयं इसी विश्लेषण में देख सकेंगे ।

इसके अतिरिक्त प्रो0 ट्रेंच का यह कथन भी बड़ा महत्वपूर्ण है कि प्रायः लोगों के द्वारा प्रयोग में लाया जाने वाला एक शब्द ही उनकी वास्तविक स्थिति, आचार-विचार एवं चिन्तन प्रक्रिया पर ऐसा गहरा प्रकाश डाल सकता है जैसा कि इन विषयों पर लिखा गया एक विशालकाय ग्रन्थ भी नहीं डाल सकता । {वही, 82}

इसमें कोई सन्देह नहीं कि हमें परम्परागत रूप में जो भाषिक सामग्री प्राप्त होती है वह उस जाति या समुदाय के लोगों की जीवन पद्धति तथा सांस्कृतिक परम्पराओं के विषय में ऐसा प्रकाश डाल सकती है । जोकि अन्य स्त्रोतों से सर्वथा असम्भव होता है ।

भाषा एवं संस्कृति की अन्योन्याश्रितता के विषय में जो एक अन्य महत्वपूर्ण बात है वह यह कि समाज का बाहरी ढांचा बदल जाने पर भी उसका भाषिक ढांचा बना रहता है क्योंकि भाषा स्वभावतः रूढ़िवादी होती है और इसी कारण अपनी पिछली परम्पराओं की बोधक शब्दावली को संजोये रखना पसन्द करती है । फलतः हम अनेक बार भाषा विशेष के माध्यम से उस भाषिक समुदाय के लोगों के सामाजिक ढांचे की पुरानी झांकियों को देख पाने मे समर्थ हो सकते हैं, विशेषकर उन सन्दर्भों में जिनमें कि वस्तु विशेष अथावा व्यवहार विशेष के बाह्य रूपों अथावा व्यवहारिक रूपों में तो परिवर्तन आ चुका होता है, किन्तु उनका संकेत बोध परम्परागत शब्दावली के माध्यम से ही चलता रहता है फलतः उन शब्दों का अर्थ- परक या प्रयोग- परक विश्लेषण करने पर कोई समाज भाषा- विज्ञानी अथावा नृतत्व-भाषा विज्ञानी ठीक उसी प्रकार उसके मौलिक रूपों की पुनः-रचना करने में समर्थ हो सकता है जिस प्रकार कि कोई भूगर्भशास्त्री पुरातन जीवों के कतिपय जीवाश्म खण्डों से उनकी मौलिक आकृति- प्रकृति पर प्रकाश डालने में समर्थ हो सकता है ।

आदिम से आदिम समाजों में भी कोई ऐसी सामाजिक प्रथा या सांस्कृतिक क्रिया-कलाप नहीं होता जिसके लिए उस भाषिक समुदाय में कोई संकेतक ध्वनि रूप {शब्द} न होता हो । ये शब्द रूप बड़े सार्थक एवं ध्वन्यात्मक होते हैं जो कि संक्षिप्त एवं प्रतीकात्मक होते हुए भी संकेतित वस्तु अथावा संकल्पना का स्पष्ट रूप से भाव बोध कराते हैं । बदले हुए परिवेश में सम्बद्ध भाषा अपने इन ध्वनि-संकेतों को नया रूप भी दे देती है तथा उनके परम्परा प्राप्त पुराने रूपों से भी काम चलाती रहती है । उदाहरणार्थ अनेक भारतीय समाजों में जहां पहले ममेरी बहिन के साथ वैवाहिक सम्बन्ध शास्त्र सम्मत तथा समाज सम्मत होने से ससुर को "मामा" तथा सास को मामी कहा जाना सर्वथा संगत था। वहां कालान्तर में उस प्रथा के समाप्त हो जाने अथावा इस प्रकार का सम्बन्ध समाज को अग्राह्य हो जाने के बाद भी सास-ससुर के लिए उन्ही सम्बोधनों का प्रयोग चलता रहता है जो कि हमारे समक्ष कालान्तर में एक भाषिक प्रमाण के रूप में उस समाज के अतीत के वैवाहिक सम्बन्धों की स्थिति पर प्रकाश डाल सकने में समर्थ होता है । अर्थात् इस प्रकार की सामाजिक प्रथा के समाप्त हो जाने पर भी कभी उक्त समाज में इसकी स्थिति के होने का संकेत देता है ।

प्रस्तुत लेख में हम किन्नौरी की बन्धुत्ववाची शब्दावली के परिप्रेक्ष्य में उस समाज की कतिपय अतीत की तथा वर्तमान की सामाजिक प्रथाओं और सांस्कृतिक प्रक्रियाओं के सम्बन्ध में विचार करेंगे । इस सम्बन्ध में यहां

पर इतना स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि विश्लेषण में प्रस्तुत निष्कर्षों के सम्बन्ध में यह आवश्यक नहीं कि इनका वही रूप आज भी समाज में उसी रूप में प्रचलित है जो कि तब था जब कि उनके संकेतक इन शब्दों को प्रयोग में लाया गया था । अत : बहुत सम्भव है कि इनमें से अनेक प्रथाएं अपने मूल रूप से बहुत बदल चुकी हों । इस प्रकार इन शब्दों के प्रस्तुत विश्लेषण को सांकालिक§" Synchronic § विश्लेषण न मान कर कालक्रमिक § Diachronic §विश्लेषण मानना ही अधिक संगत होगा।

इस सम्बन्ध में एक अन्य विचार बिन्दु जिसको यहीं स्पष्ट किया जाना आवश्यक है, वह यह है कि प्रस्तुत विश्लेषण से हमारा अभिप्राय केवल इन शब्द-स्त्रोतों से आभासित होने वाले सांस्कृतिक रूपों के प्रस्तुतिकरण मात्र से है, उनके गुण-दोष विवेचन अथावा अन्य संस्कृतियों से उनको प्रवरावरता बतलाने से नहीं । मेरी दृष्टि में किसी भी विश्लेषक को ऐसा करने का अधिकार होना भी नहीं चाहिए । इस विषय में तो बस यही मानकर चलना अधिक उपयुक्त होगा कि प्रत्येक समाज स्वयं अपनी संस्कृति का विधायक एवं संरक्षक होता है । उसके कर्णधारों के द्वारा उस समाज को बनाये रखने के लिए जिन व्यवस्थाओं का विधान किया होता है वे उसके अस्तित्व एवं संवर्धन के लिए उपयोगी होने पर ही जीवित रहती है । उनके प्रचलित रहने तथा संरक्षण किये जाने में ही उस समाज का तथा उसके सदस्यों का हित निहित होता है, कालान्तर में बदली हुई परिस्थितियों में उनकी उपयोगिता न रहे यह एक अन्य बात है, अतः किन्हीं भिन्न सामाजिक प्रथाओं का किन्हीं भिन्न स्थितियों के लिए नियत सामाजिक प्रथाओं के साथ तुलना करना अथावा उसकी तुलना में उनकी श्रेष्ठता या हीनता का निर्णय देना कदापि संगत नहीं कहा जा सकता है ।

किन्नौरी के बन्धुत्ववाची शब्दों का अभिप्रेत विश्लेषण प्रस्तुत करने से पूर्व इन शब्दों के सम्बन्ध में यहां पर इतना और भी कह देना आवश्यक है कि किसी भी जाति के सामाजिक एवं सांस्कृतिक विश्लेषण में इस प्रकार की शब्दावली का बड़ा महत्वपूर्ण स्थान होता है क्योंकि ये शब्द अपने भाषिक भाव बोधों तथा व्यवहारिक उपयोगिताओं के अतिरिक्त समाज विशेष की उन परम्परागत सामाजिक प्रथाओं तथा उनके द्वारा स्वीकृत उन सांस्कृतिक मूल्यों की भी अभिव्यंजना करते हैं जो कि या तो कभी उनमें प्रचलित रहे या अभी भी प्रचलित हैं । अतः इन शब्दों के अर्थों तथा प्रयोगों के विश्लेषण के द्वारा किसी भी समाज के परम्परागत बन्धुत्व संगठन, उसकी सामाजिक स्थिति तथा सांस्कृतिक धारणाओं का ज्ञान बड़े सहज एवं विस्पष्ट रूप में प्राप्त किया जा सकता है । प्रस्तुत लेख में किन्नरों की बन्धुत्ववाची शब्दावली

सोमसी

का विश्लेषण भी इस लक्ष्य को सम्मुख रख कर किया जा रहा है ।

किन्नरों की बन्धुत्ववाची शब्दावली के सम्बन्ध में एक विशेष रूप से उल्लेखनीय बात यह है कि इसमें पारस्परिक सम्बोधनात्मक शब्दावली Reciprocal address terms के अनेक युग्म ऐसे हैं जो कि परस्पर अभिन्न रूप में प्रयुक्त होते हैं अर्थात् दोनों ही सम्बन्धी एक दूसरे को एक ही बन्धुत्ववाची शब्द से सम्बोधित करते हैं । उदाहरणार्थ निम्नलिखित शब्दों को लिया जा सकता है ।

साकपोः- किन्नरों में इस बन्धुत्ववाची शब्द का प्रयोग बहिन के पति {जीजा} तथा पत्नी के भाई {साला} दोनों सम्बन्धियों के द्वारा अभिन्न रूप में परस्पर एक दूसरे के लिए किया जाता है । इस शब्द का इस प्रकार का अभिन्न प्रयोग इस बात का संकेतक है कि किन्नर समाज में वैवाहिक सम्बन्धों से जुड़ने वाले दोनों परिवारों के बीच कन्याओं का आदान-प्रदान{ Exchange } हुआ करता था, क्योंकि दोनों परिवारों के बीच वधुओं के आदान-प्रदान की स्थिति में ही एक व्यक्ति एक साथ ही दूसरे व्यक्ति का जीजा भी हो सकता है और साला भी ।

बोरेः- इसी प्रकार का एक अन्य शब्द है- बोरे, जिसका प्रयोग ननद तथा भाभी दोनों के द्वारा एक दूसरे के लिए किया जाता है । यह प्रयोग भी प्रकारान्तर से उसी प्रथा का संकेत-बोध कराता है जिसके अनुसार वैवाहिक सम्बन्धों से जुड़ने वाले दो परिवारों के बीच वधुओं के लिए कन्याओं का आदान-प्रदान हुआ करता था । फलतः दोनों परिवारों के लड़कों की बहिने परस्पर एक दूसरी को भाभी तथा ननद के रिश्ते से सम्बोधित किया करतीं थीं । किन्नर समाज में इस प्रकार के सम्बन्धों की पुष्टि सम्बोधनात्मक शब्द "दाओ" से भी होती है जो कि समान रूप से सगी बहिनों, सालों की पत्नियों तथा देवरानी-जेठानियों के लिए प्रयुक्त किया जाता है ।

किन्नर भाषा में बन्धुत्ववाची शब्दों के प्रयोग की एक अन्य विशिष्ट स्थिति देखी जाती है, जो कि अन्यत्र देखने में नहीं आती । इसके अनुसार भिन्न लिंगी सम्बन्धी भी एक दूसरे को परस्पर एक ही बन्धुत्ववाची शब्द से सम्बोधित करते हैं । इस कोटि में आने वाले कतिपय शब्द इस प्रकार हैं-

बैसा या बोएसा- किन्नौरी का 'बैसा या बोएसा' एक ऐसा बन्धुत्ववाची शब्द है जो कि एक ओर तो जीजा तथा दूसरी ओर साली के पारस्परिक सम्बन्धो का बोध कराता है, इस समाज में ये दोनों ही सम्बन्धी परस्पर एक दूसरे को इसी सम्बन्ध से संकेतित करते हैं । इस प्रकार भिन्न लिंगी बन्धुओं के द्वारा परस्पर एक दूसरे को एक ही बन्धुत्ववाची शब्द के द्वारा सम्बोधित करने

के पीछे किन्नरों की किस सांस्कृतिक परम्परा का हाथ है यह तो स्पष्ट नहीं हो सका है किन्तु इस प्रकार का विशिष्ट शब्द प्रयोग किसी विशिष्ट सांस्कृतिक पृष्ठभूमि पर ही प्रचलित हुआ होगा इसमें सन्देह नहीं ।

बोरे- पारस्परिक सम्बोधनात्मक शब्दावली की श्रृंखला का ऐसा ही एक अन्य शब्द है "बोरे" । इस शब्द का प्रयोग क्षेत्र बहुत विस्तृत है । जैसा कि ऊपर भी बताया जा चुका है कि एक ओर तो इसका प्रयोग सम लिंगी वक्ताओं ननद तथा भाभी दोनों के द्वारा परस्पर एक दूसरे के लिए किया जाता है तथा दूसरी ओर विषम लिंगी वक्ताओं अर्थात देवर-भाभी, जेठ-बहू के द्वारा भी परस्पर एक दूसरे के लिए । सम लिंगी स्त्री वर्गीय सम्बन्धियों के बीच इस प्रकार के पारस्परिक सम्बोधन की स्थिति तो उपर्युक्त रूप में बोधगम्य हो सकती है किन्तु एक ही परिवार के अन्दर विषम लिंगी व्यक्तियों के बीच एक ही बन्धुत्ववाची शब्द का प्रयोग एक व्यवहारिक उलझन उत्पन्न करने वाला प्रतीत होता है । इस सन्दर्भ में यदि "बोरे" का अर्थ "भाई की पत्नी" लिया जाये तो बहुपति प्रथा के अन्तर्गत देवर या जेठ के द्वारा अपने छोटे या बड़े भाई की पत्नी को "बोरे" कहना संगत हो सकता है किन्तु भिन्न लिंगी दोनों ही सम्बन्धियों के द्वारा परस्पर एक दूसरे को एक ही बन्धुत्ववाची शब्द से सम्बोधित करने के पीछे कौन सी प्रवृति या प्रथा कार्यशील रही होगी इसे स्पष्ट कर पाना कठिन प्रतीत होता है । इसका कारण चाहे कुछ भी रहा हो पर इस प्रकार के भाषिक प्रयोगों से इतना तो स्पष्ट है कि किन्नर समाज में उपर्युक्त प्रकार के पारिवारिक सम्बन्धों का वही रूप नहीं था जो कि आर्य वर्ग के लोगों की सामाजिक﴾स्मृति सम्मत﴿ परम्परा में पाया जाता है ।

उपर्युक्त भाषिक प्रयोगों के प्रकाश में कहा जा सकता है कि नाते-रिश्ते की दृष्टि से किन्नरों की पारिवारिक इकाई की स्थिति वही नहीं थी जो कि आर्यों की पारिवारिक इकाई की थी अर्थात् इसमें एक पिता की सन्तानों में किसी एक व्यक्ति की पत्नी के लिए उसके पति के अन्य सभी भाइयों की पद-स्थिति अभिन्न थी अर्थात् स्त्री के लिए पति तथा पति से इतर की तथा पुरूष के पत्नी तथा पत्नीतर की ही स्थिति थी, उनमें कोई आयुगत भेद नहीं किया जाता था । उल्लेख्य है कि किन्नरों के आधुनिक समाज में इस स्थिति में परिवर्तन आ जाने पर भी ये भाषिक प्रयोग हमें इस समाज के उस पुरातन सामाजिक ढांचे की झलक देने में सर्वथा समर्थ है जबकि यह सब कुछ उस का एक सहज एवं स्वाभाविक रूप था ।

इस सन्दर्भ में यहां पर इस बात का उल्लेख रूचिकर हो सकता

सोमसी

है कि ऋग्वैदिक काल में आर्य जाति की सामाजिक व्यवस्था में भी पति के छोटे तथा बड़े भाइयों के लिए पृथक-पृथक बन्धुत्ववाची शब्द नहीं थे। सभी के लिए "देवर" {द्वितीयो वरः} शब्द का प्रयोग बिना किसी भेदभाव के किया जाता था। {दे0 शिवराज शास्त्री, ऋग्वैदिक काल में पारिवारिक सम्बन्ध, पृ0, 395}।

इसके अतिरिक्त बन्धुत्ववाची शब्दों के सन्दर्भ में किन्नर भाषा में जो एक अन्य उल्लेखनीय विशेषता है वह यह कि इसमें एक ही बन्धुत्ववाची शब्द का प्रयोग अनेक प्रकार के बन्धुत्व सम्बन्धों के संकेत बोध के लिए किया जाता है । उपर्युक्त शब्दों के अतिरिक्त कतिपय अन्य शब्द जो कि इस कोटि में आते हैं वे हैं --

मामाः- किन्नौरी में मामा या मोमा शब्द का प्रयोग मां के भाई के अतिरिक्त और भी अनेक प्रकार के सम्बन्धों की अभिव्यक्ति के लिए किया जाता है । यथा पिता की बहिन का पति {फूफा} पति या पत्नी के पिता की बहिन का पति {फुफेरा ससुर} आदि ।

आनेः- इसी प्रकार आने शब्द का प्रयोग भी मां के भाई की पत्नी {मामी} के अतिरिक्त उन अनेक स्त्री सम्बन्धियों के लिए भी किया जाता है जो कि श्वसुर {सास} स्थानीय होती हैं, यथा पिता की बहिन {फूफी} पति या पत्नी के पिता की बहन, {फुफेरी सास} पति या पत्नी की मां के भाई की पत्नी {ममेरी सास} आदि ।

उपर्युक्त प्रकार के बन्धुत्ववाची सम्बोधनात्मक शब्दों का प्रयोग सम्भवतः उन सामाजिक प्रथाओं का संकेतक है जिनके अन्तर्गत फूफी तथा मामा के बेटे-बेटियों के बीच वैवाहिक सम्बन्धों { Cross cousin marriage } को समाज सम्मत समझा जाता था । डॉ0 बंशीराम शर्मा के अनुसार भी यद्यपि मामा के लड़के या लड़की से विवाह की प्रथा सर्व सामान्य तथा आवश्यक सामाजिक नियम नहीं है, परन्तु हड़्रङ् क्षेत्र में तथा कम या अधिक अन्य क्षेत्रों में भी, इस प्रकार के अनेक उदाहरण मिल जाते हैं । ऐसा विवाह चर्चा का विषय नहीं होता है {1976:306} ।

इस प्रकार के वैवाहिक सम्बन्धों के विषय में हमारे अनुमान की पुष्टि इस बात से भी होती है कि इस समाज में आयु की ज्येष्ठता अथवा कनिष्ठता के अनुसार समधी तथा समधिन परस्पर एक दूसरे को भाई {आचो या बाया} तथा बहिन {आऊ्या बाया} के रिश्ते से सम्बोधित करते हैं तथा इस भाषा में समधी तथा समधिन के लिए कोई बन्धुत्ववाची शब्द भी नहीं है ।

इसके अतिरिक्त इस प्रकार के वैवाहिक सम्बन्धों की पुष्टि इस बात से भी होती है कि इस समाज में समधी तथा समधिन का सम्बन्ध ठठ्ठे -मजाक का सम्बन्ध भी नहीं है जैसा कि कतिपय अन्य समाजों में पाया जाता है। भाई-बहिन की स्थिति में ऐसा होना सम्भव ही नहीं ।

बापुच्:- इसी प्रकार मां की बहिन के पति{मौसा} तथा पिता के भाई {चाचा} के लिए अभिन्न रूप बन्धुत्ववाची शब्द {बापुच्} का प्रयोग भी किन्नर समाज की इस मान्यता का संकेत करता है जिसके अनुसार किन्हीं दो सगी बहिनों का विवाह किन्हीं दो सगे भाइयों के साथ हो सकता था अर्थात पिता का छोटा भाई मौसी का पति हो सकता था ।

सोग:- बन्धुत्ववाची शब्दावली के अन्तर्गत आने वाला इसी कोटि का एक अन्य शब्द है "सोग" जो कि देवरानी, जेठानी अथवा सपत्नी किसी के लिए भी अभिन्न रूप में प्रयुक्त किया जा सकता है । कहने की आवश्यकता नहीं कि "सोग" शब्द का विकास स्पष्टतः " सौत " या सपत्नी" शब्द से हुआ है । इस प्रकार सपत्नी के सन्दर्भ में तो इस शब्द का प्रयोग सर्वथा संगत ही है, पर देवरानी तथा जेठानी के सन्दर्भ में विचारणीय है। इस शब्द के प्रयोग क्षेत्र का यह विस्तार सम्भवतः उस सामाजिक प्रथा की देन है जिसके अनुसार एक पिता की सभी सन्तानों के लिए एक पत्नी का होना आवश्यक था । स्पष्ट है कि ऐसी स्थिति में किसी भी भाई के द्वारा पत्नी के रूप में लाई गयी कोई भी स्त्री पूर्व विवाहिता पत्नी के लिए सपत्नी ही हो सकती थी, अतः उक्त सामाजिक परिस्थितियों में इस शब्द का इस प्रकार का प्रयोग सर्वथा संगत था किन्तु अब उक्त सामाजिक स्थिति में पर्याप्त परिवर्तन आ जाने पर भी नये शब्दों के निर्माण के अभाव में जाने-अनजाने परम्परागत शब्दों का ही प्रयोग किया जा रहा है जो कि इस समाज के अतीत की परम्पराओं की ओर झांकने के लिए एक उपयोगी झरोखे का काम कर सकता है ।

किन्नर समाज में कभी बहुपति प्रथा का एक समाज सम्मत प्रथा के रूप में अनुपालन किया जाता रहा है इसका संकेत बोध उन अनेक बन्धुत्ववाची तथा सम्बोधनात्मक शब्दों से भी होता है जोकि किन्नौरी भाषा में सामान्यतः पितृ स्थानीय बन्धुओं के लिए प्रयुक्त होते हैं, यथा "पिता" के लिए तो किनोरिया नुस्कद {किन्नौरी भाषा}का शब्द है "बोवा" एवं पिता के छोटे भाई के लिए"बापू" जो कि समाज की आधुनिक परिवर्तित स्थिति की देन प्रतीत होता है, क्योंकि परम्परागत शब्दावली में यह स्थिति भिन्न रूप में प्राप्त होती है ।

उसके अनुसार वास्तविक पिता का संकेतक शब्द तो "बोवा" ही है, पर उससे बड़े भाई के लिए तेग §बड़ा§ 'बापू', उससे छोटे के लिए मज़ङः §मंझला§ बापू, सबसे छोटे के लिए ज़िच़§छोटा§ 'बापू' तथा भेड़-बकरियों को चराने वाले के लिए जेस्या §ग्वाला§ 'बापू', शब्दों का प्रयोग किया जाता था, जोकि अभी तक चला आ रहा है ।

स्मरणीय है कि बहुपति प्रथा के अन्तर्गत किसी बच्चे के लिए पिता के अन्य सभी भाई भी पिता ही होते हैं एवं संकेत बोध की स्पष्टता के लिए उनके साथ ज्येष्ठ, मंझला एवं कनिष्ठ आदि विशेषणों का प्रयोग किया जाता है । मध्य हिमालय के उन अन्य क्षेत्रों में भी माता-पिता के वाचक शब्दों में यही प्रवृति पायी जाती है जहां पर कि बहुपति प्रथा प्रचलित रही है । इसके अतिरिक्त इन भाषाओं में "चाचा" तथा "ताया" जैसे स्वतंत्र शब्दों का अभाव भी प्रकारान्तर से इसी बात की पुष्टि करता है ।

किन्नर भाषा में उपर्युक्त प्रकार के सैंकड़ों ही शब्द हैं जो कि इसके बोलने वालों की अतीत एवं वर्तमान की अनेक सामाजिक प्रथाओं एवं सांस्कृतिक परम्पराओं के सम्बन्ध में पर्याप्त विश्वसनीय सूचनाएं दे सकने में सर्वथा समर्थ है । आवश्यकता है इस दिशा में और अधिक विस्तृत एवं गहन अध्ययन करने की । प्रस्तुत लेख को हम कतिपय बन्धुत्ववाची शब्दों तक ही सीमित रख रहे हैं, अन्य पक्षों पर पुनः कभी लिखा जायेगा ।

पंजाब विश्वविद्यालय, चण्डीगढ़

चम्बा लोक-रंगमंच का रूप तथा संगठन

– हरिप्रसाद 'सुमन'

लोक रंगमंच तथा साहित्यिक रंगमंच में मुख्य अन्तर यह है कि लोक रंगमंच ग्रामीण जन समूह के दैनिक जीवन की प्रक्रिया से जुड़ा रहा है और साहित्यिक रंगमंच सभ्य समाज के मनोविनोद का एक साधन मात्र रहा है। लोक रंगमंच जीवन की उमंग की सरल तथा स्वाभाविक अभिव्यक्ति है, किन्तु नागरिक रंगमंच कलात्मक एवं चेष्टायुक्त अभिव्यक्ति ।

भारतीय नाट्य कला और रंगमंच का इतिहास हमें बताता है कि प्राचीन नाटक का प्रादुर्भाव लोक रंगमंच और लोक नाट्य के रूप में हुआ था। सामवेद के उपासना नृत्य और गान नाटक के ही आदि रूप थे ।

लोक नाट्य का दूसरा उद्गम रामायण और महाभारत के उन गायकों से भी मिलता है जिन्हें पाठक और धारक नाम दिया गया है। कालान्तर में रामलीला तथा रासलीला की प्रेरणा भी समाज को इन्हीं से मिली ।

भारतीय आर्यों के प्रथम नाटकों में कृष्ण कथा की अवतारणा इस बात का प्रमाण है कि संस्कृत नाटकों के उद्भव में लोक रंगमंच का बहुत बड़ा हाथ था। मध्य युग में जब संस्कृत नाटकों का ह्रास होने लगा और मुगल साम्राज्य से रंगमंच को निर्वासित कर दिया गया तो लोक रंगमंच ही तीन चार शताब्दियों तक प्राचीन नाट्य रूपों का पोषक रहा ।

बंगाल व बिहार में जात्रा, उत्तर प्रदेश में रासलीला, रामलीला राजस्थान में कठपुतली, महाराष्ट्र में 'ललित', दक्षिण भारत में कथाकली, पंजाब व हरियाणा में नौटंकी तथा हिमाचल में करियाला, बांठडा, झांकी, भगत, हरणात्र आदि अनेक रूपों में लोक रंगमंच शिक्षा मनोरंजन तथा सामाजिक व्यंग्य के छींटे कस कर अपना अस्तित्व बनाये रहा ।

स्वाधीनता से पूर्व चम्बा मण्डल में लोक रंगमंच के चार रूप देखने को मिलते थे :-

1. रास 2. झांकी 3. भगत 4. हरण या हरणात्र ।

इनमें रास और झांकी अब विलुप्त हो चुके हैं और अन्तिम दो रूप भगत और हरणात्र आज भी विद्यमान हैं ।

समय : रास मण्डलियां क्योंकि बाहर से आती थीं अतः इसके मंचन का कोई समय निश्चित न था किन्तु शेष तीनों का मचंन होली के दिन से होता था और बैशाखी तक चलता रहता था। भगत का प्रदर्शन ग्रामों में संस्कार या

मेलों आदि के अवसर पर भी होता है।

मंचः इन लोक नाट्यों के लिये किसी व्यवस्थित मंच का निर्माण नहीं होता वरन् किसी खुले मैदान अथवा किसी व्यक्ति के मकान के खुले प्रांगण में एक ओर आग जला दी जाती है। आस-पास दर्शक बैठ जाते और सामने मशालें जलाकर या लालटेन के प्रकाश में ही लोक नाट्य आरम्भ हो जाता है। न स्टेज की व्यवस्था न ग्रीन रूम की आवश्यकता न प्रोमिटर का काम।

आरम्भः प्रत्येक लोक नाट्य का आरम्भ गणपति की प्रार्थना से होता है यथा गणपति गणेश को मेरा है नमस्कार ! चन्द्रावली नर्तकी के रूप में एक थाली में दीपक जलाकर आरती करती है और हारमोनियम, तबले, कंशी के स्वरों के साथ रास तथा भगत का आरम्भ हो जाता है। रास लीला में कृष्ण गोपियाँ तथा मनसुखा के प्रहसनात्मक अभिनय के प्रदर्शन के बाद कभी गीत, कभी नृत्य, कभी प्रहसन व आधी रात के बाद किसी धार्मिक नाटक हरिश्चन्द्र, मोरध्वज, पूर्ण भगत की लीला दिखाई जाती है। बीच-बीच में दर्शकों के मनोरंजन के लिये पहाड़ी गीत तथा गद्दी-गद्दन के संवाद, साधु का स्वांग, चुराही चुरेहन व कामा के प्रहसनात्मक संवाद।

भगत व हरणात्र के पात्र भी प्रायः समान ही होते हैं तथा प्रहसनात्मक स्वांग भी समान ही होते हैं।

झांकी के दल नगर में गठित होते थे। इसमें पहले गणेश बन्दना होती थी फिर कृष्ण गोपियों तथा मनसुखा के संवाद फिर साहब मेम के संवाद, फिर साधु का स्वांग, फिर गद्दी गद्दन के संवाद, गद्दन का बीमार होना व उसका टूने टोटके से इलाज़, एक ओझा जिसे 'गारड़ी' कहा जाता है, वह गद्दन पर झाड़ फूंक करता है और मन्त्र पढ़ता जाता है। मन्त्र भी प्रहसनात्मक होते हैं यथाः-

डाली डाली डफ्ली सर मुण्ड गे अफरी
डाली वाही गईणे मण्हु लगे मरणे
डाली वाही करंगोरे मण्हु घणे मोरे इत्यादि।

गद्दन मुंह ढांपे उसके आगे बैठी होती है और कांप कांप कर अपनी बीमारी का कारण बताती है। गारडी प्रहसनात्मक संवादों से दर्शकों को हंसाता है। बीच-बीच में लोक गीत, नृत्य व फिर स्वांग नकल का कार्यक्रम चलता है।

हरणात्र: हरणात्र चम्बा क्षेत्र का अत्यंत प्राचीन व प्रसिद्ध लोक नाट्य है। इस समय इसके दो प्रसिद्ध दल हैं जो विभिन्न सरकारी व गैर सरकारी समारोहों के अवसर पर हरणात्र का मंचन करते हैं ।

§1§ कृषक लोक नाटक मण्डल साहो, तहसील व ज़िला चम्बा, जिसके संचालक हरदयाल शर्मा हैं।

§2§ भागी राम पार्टी, जड़ेरा, तहसील व ज़िला चम्बा।

हरणात्र के पात्र

चन्द्रावली
चेला
गारड़ी
दो साधु व एक साधन चौधरी
लवाणे §खच्चरों वाले§
साह §सेठ§ साहणी
गुज्जर
चुराही व चुरहने
गद्दी गद्दण व कामा

हरणात्र का आयोजन होली के दिनों में होली की रात को अथावा उसके बाद होता है। होली की रात को एक व्यक्ति के सिर पर हिरण के सींग बांध दिये जाते हैं आगे-आगे वह नाचता हुआ घर-घर दाने मांगता है पीछे-पीछे सब लोग ढोलक व कंशी बजाते, गाते चलते हैं। हरण आया हरणोटा भलो, हरणात्र का आरम्भ रात के नौ बजे से प्रातः तक चलता रहता है।

सर्व प्रथाम जिसके घर में हरणात्र का आयोजन होता है, वह गृहपति आमंत्रित कलाकारों को भोजन करवाता है, फिर अग्नि पूजन के बाद आग जला दी जाती है और चन्द्रावली आकर मंच की सफाई करती है, फिर चेला व गारडी आ जाते हैं गारडी धूंतारा बजाता है चेला कांपता है व गृह पति को आशीष देता है । उसे फलने फूलने व अन्न-धन्न से समृद्ध होने का आशीष देता है।

इसके बाद दो साधु व एक साधन मंच पर प्रवेश करते है, प्रहसनात्मक शैली में उनके संवाद होते हैं। एक दूसरे को पूछता है, 'आप कहां से आये हैं'? दूसरा उत्तर देता है बड़ी दूर से ।

दूसरा कई स्थानों के नाम लेकर अयोध्या, काशी, मथुरा, वृन्दावन कहां से आये ?

पहला कहता है इससे भी बड़ी दूर से ।
अन्त में जब वह बताता है कि इन दर्शकों के बीच से तो दर्शकों में हंसी का फव्वारा छूट पड़ता है ।

पहला साधु पूछता है आपका मठ कौन सा है?
उत्तर मिलता है श्मशान।
आपकी शाखा कौन है ?
उत्तर मिलता है ब्रेक ।
आपका सूत्र कौन है ?
उत्तर मिलता है उनाला §उनी§।

गद्दी - गद्दन के स्वांग में गद्दी अपनी जन्म भूमि भरमौर की याद आने पर एक गीत गाते व नृत्य करते हैं

गीत:

मेरया ठण्डे भरमौरा जी वो जी मेरेया ठण्डे भरमौरा जी वो जी।।
गद्दी होये उदासा जीवो जी। गद्दी होये उदास जीवो जी।।
चिट्टुए बदलियो भाखा जीवो जी। चिट्टुए बदलियो भाखा जीवो जी।।
असी गद्दी भरमौरी जीवो जी। असी गद्दी भरमौरा जीवो जी।।
लान्दे चोला ते डोरा जीवो जी। लान्दें चोला दे डोरा जीवो जी।।
तेरी गद्दण सौहणी जीवो जी। तेरी गद्दण सौहणी जीवो जी।।

एक अन्य गीत में जब भरमौर में बर्फ लगती है तो गद्दन उदास होकर कहती है:-

धारा लगया सीणा वो गदिया धारा लगा सीणा हो
जान्धर जाई जीणा वो गदिया जान्धर जाई जीणा हो,
धारा धूँरी पेई वो गदिया धारा धूँरी पेई हो
छिकणू लाया रीणा वो गदिया, छिकणू लाया रीणा वो गदिया,

गद्दी अपने नौकर§कामे§ को बीस भेड़ें चराने को दे जाता है वापिस आने पर वह जब अपनी भेड़ों का समाचार पूछता है तो कामा उत्तर देता है मनोरंजक शैली में:-

अक्की जो लेई गो सीह ।
गद्दी- भेड़ा रेही उन्नी ।
कामा- अक्क खाई भुन्नी ।
गद्दी- भेड़ा रेही अठारा।
कामा - अक्क रेही बताहरा ।
गद्दी- सो किहयां?
कामा- ऊपरा धौंऊ नइ पेऊं जो जंघ गेई भजी ।

गददी- हरा ता भेड्डा रेही सतारा ।
कामा- तिसारा करू निस्तारा ।
गद्दी- ता भेड्डा रेही सोला ।
कामा- तैह जो लेई गो भोला ।
गद्दी- भेड्डा रैही पन्द्रा ।
कामा- अक्की जो लेई गो चन्द्रा ।
गद्दी- ता भेड्डा रैही चौदा ।
कामा- अक्की रा लेऊ सौदा ।
गद्दी- भेड्डा रैही तेहरा ।
कामा- अक्की रा लेऊ सेहरा ।
गद्दी- सो कजो?
कामा- भाणजे रा बैहथू तैहजो सेहरा चहीन्दा था ।
गद्दी ता मेयां भेड्डा रैही वारा ।
कामा- अक्की ने खऊ पारा ।
गद्दी- ता मेयां भेड्डा रैही यारा ।
कामा- अक्की रा मारू प्यारा ।
गद्दी- भेड्डा रैही दस ।
कामा- अक्की पर चढ़ी बस ।
गद्दी- ता भेड्डा रही नौ ।
कामा- अक्की जो लगे जौ ।
गद्दी- भेड्डा रैही अट्ठ ।
कामा- अक्की जो मारू फट्ट ।
गद्दी- सो कजो मेयां ?
कामा-चिच्ची खाणे जो मन करू जे मारू फट्ट ।
गद्दी- ता भेड्डा रैही सत्त ।
कामा- अक्की जो खड़की लत्त ।
गद्दी- भेड्डा रैही छीया ।
कामा- अक्की रा मज्जू हीया ।
गद्दी- ता भेड्डा रैही पंज ।
कामा- अक्की री चा हड्डी संज ।
गद्दी- ता मेयां भेड्डा रैही चौर ।
कामा- अक्की जो लेई गो चोर ।
गद्दी- भेड्डा रैही त्राई ।
कामा- अक्क छड्डी खाई ।

गद्दी- ता भेड़ा रैही दुई ।
कामा- अक्की जो चुभ्भी सुई ।
गददी- ता तेरा किछ नांह रैहू ।
कामा- तेरा नाह रैहू किछ मूं भले ता समकिछ हा ।
गददी- ता भैड़ रैही अक्क ।
कामा- तिसारा भज्जु लक्क ।

धार्मिक दृश्यों में मन सुखा तथा गद्दी-गद्दन व चुराही-चुरहन के स्वांग में कामा विदुषक के रूप में विकृत वेश भूषा में पूरे समय तक मनोरंजन करता रहता है और दर्शक हंसी के फव्वारे छोड़ते रहते हैं ।

सम्पूर्ण कार्यक्रम में हास्य रस का ही प्राधान्य रहता है। कभी-कभी तो अश्लीलता भी आ जाती है।
गूज्जरों के स्वांग में दूध पर इन्सपैक्टर द्वारा छापा व घूस लेना वर्तमान परिस्थिति पर करारी चोट करता है और भी कई संवाद वर्तमान कुरीतियों पर तीखे व्यंग्य की झलक प्रस्तुत करते हैं ।

विस्तार भय से सभी स्वांगों के संवाद देना सम्भव नहीं, फिर लोक नाटकों के पात्र कोई निश्चित संवाद नहीं बोलते। परिस्थितिवश जो उनके मुंह से उस समय निकल जाए वही काम धकेल देता है फिर दर्शकों को हंसाना तो उनका मुख्य उद्देश्य होता है । अतः शर्म की भी उन्हें कोई चिन्ता नहीं होती हरणात्र व झांकी में कोई कथा या लीला नहीं दिखाई जाती जबकि रास व भगत में कोई कथा या लीला अवश्य दिखाई जाती है। हरणात्र में पहले वेले भी नहीं होती थी किन्तु अब भगत की तरह इस में भी वेलें शुरू हो गई ।

चारों विधाओं में पात्र पुरूष ही होते हैं। नारी पात्रों का अभिनय भी पुरूष ही करते हैं ।

सुमन कुटीर, मुहल्ला हटनाला
जिला चम्बा, हि० प्र०

रोहड़ू क्षेत्र की विवाह प्रथाएं

-जया चौहान

हिन्दू धर्म शास्त्रों के अनुसार मनुष्य का जीवन जन्म से मृत्युपर्यन्त संस्कारों में बधां है जिनमें प्रमुख संस्कार सोलह हैं। इन सोलह संस्कारों में जन्म तथा मृत्यु संस्कार जहां जीवन के आरम्भ और अन्त के सूचक हैं वहीं विवाह संस्कार दो अलग-अलग इन्सानों के जीवन की आस्थाओं का निःस्वार्थ-मय समझौते का बंधन है। विवाह संस्कार में जहां लड़की के माता-पिता कन्या दान करके अपने आपको सौभाग्यशाली मानते हैं वहां दूसरी ओर लड़के के माता-पिता घर में बहु लाकर पुत्र के प्रति अपने सबसे बड़े कर्तव्य को पूरा कर स्वंय को जिम्मेदारियों से मुक्त पाते हैं।

प्रत्येक जाति और धर्म में विवाह की अलग-अलग प्रथाएं प्रचलित हैं। हिमाचल प्रदेश में भी विवाह प्रथा के अलग-अलग स्वरूप हैं। शिमला ज़िले के महासू क्षेत्र में विवाह की प्रथाएं भिन्न-भिन्न होने पर भी आपस में काफ़ि मेल खाती हैं। इस क्षेत्र में जो प्रथा अधिक प्रचलित है उसे कोटखाई में 'गाडर' कहा जाता है और रोहड़ू में 'विआओ'। इस क्षेत्र की प्रथाएं काफ़ि दिलचस्प और अपने आप में कुछ विशेषताएं लिये हुए है। दिलचस्प इसलिए कि यहां पर इस प्रथा के अनुसार दुल्हा बारात लेकर दुल्हन लेने उसके घर नहीं जाता है विशेषता यह है कि इस तरह के विवाह में लड़की के माता-पिता बहुत ही कम खर्च में एक बहुत बड़ी जिम्मेदारी से मुक्त हो जाते हैं।

रोहड़ू क्षेत्र में विवाह को 'विआओ' कहा जाता है जो कदाचित् 'विवाह' शब्द का ही अपभ्रंश रूप है। वैसे बोल-चाल की भाषा में अधिकतर "शादी" शब्द का ही प्रयोग होता है। विवाह की प्रथम रस्म है 'बान्दा' डालना अर्थात् लड़के के पिता या घर का मुखिया लड़की वालों के घर जब पहली बार लड़की का हाथ मांगने जाता है। तब यदि लड़की के परिवार वाले अपनी स्वीकृति दे दें तो वह 5/- रूपये से लेकर 10/-रूपये (ये चांदी के रूपये ही अक्सर होते हैं) 'बान्दे' के रूप में लड़की के परिवार के मुखिया को देकर लड़की को रोक लिया जाता है। अर्थात् जब तक लड़की के परिवार में यह 'बान्दा' रहता है तब तक लड़की का रिश्ता कहीं अन्यत्र तय नहीं किया जा सकता। 'बान्दा' वापिस केवल विशेष परिस्थितियों में ही किया जा सकता है। 'बान्दा' वापिस करना लड़के के परिवार की तौहीन समझी जाती है तथा सम्बन्धों में स्थायी दरारें पड़ जाती हैं। इसके पश्चात् विवाह की तिथि निश्चित की जाती है। विवाह

की तिथि से तीन-चार दिन पूर्व 'बिरादरी' के सभी पुरुष सदस्य विवाह वाले घर में एकत्रित होते हैं जहाँ पर प्रत्येक सदस्य को निमन्त्रण पत्र दिये जाते हैं जिन्हें (निउंदे) कहा जाता है। यह हस्तलिखित पत्र होते हैं और मौली से बंधे होते हैं। इधर निउंदे लेकर वे लोग रिश्तेदारों, बन्धु-बान्धवों तथा मित्रों को आमन्त्रित करने के लिये प्रस्थान करते हैं उधर विवाह के लिये कुटाई-पिसाई शुरू हो जाती है। लकड़ी के बने मकानों को रगड़-रगड़ कर साफ किया जाता है, लिपाई पुताई की जाती है। आखिर विवाह का दिन आ जाता है। सेहरा आदि बांधने का रिवाज कहीं-कहीं है कहीं नहीं। हां जिस दिन बारात जानी होती है उस दिन सभी आमन्त्रित रिश्तेदार विवाह वाले घर में आते हैं और अपने साथ 'पांच पाथे' यानि पांच सेर तक धान अपनी सामर्थ्य अनुसार लाते हैं जिसे 'मोटला' कहा जाता है जो एक प्रकार से विवाह वाले घर में विवाह कार्य में उनके सहयोग का परिचायक होता है। यहां यह उल्लेखनीय है कि इस 'मोटले' के अतिरिक्त शगुन के रूप में कुछ भी नहीं लिया-दिया जाता है। यदि विवाह लड़की का हो तो प्रत्येक आमन्त्रित बन्धु-बान्धव रिश्तेदार एवं मित्र अपनी तरफ से लड़की को शगुन के रूप उपहार आदि देते हैं जिसे लड़की को 'टीका' लगाना कहा जाता है। एक और विशेष बात यह है कि जो आमन्त्रित रिश्तेदार होते हैं वे सिर्फ खाना खाने तथा विवाह की रस्में देखने ही विवाह वाले घर में जाते हैं बाकि उनके रहने का प्रबन्ध जो बिरादरी का व्यक्ति उन्हें आमन्त्रित करने गया होता है वही करता है अर्थात निउंदे लेकर गये प्रत्येक व्यक्ति को उन द्वारा आमन्त्रित लोगों के रहने की व्यवस्था करनी होती है।

जब बारात कन्या के घर को प्रस्थान करती है, उससे पूर्व कन्या के लिये दिये जाने वाले वस्त्रों, आभूषणों तथा वर की कटार की विधिवत् पूजा की जाती है। उसके पश्चात् ही वर के स्थान पर उसका प्रतिनिधि जिसे 'लाडसु' कहा जाता है, वह दूल्हे की 'कटार' लेकर बधु के घर की तरफ बारात, जिसमें पांच, नौ या ग्यारह व्यक्ति होते हैं, के साथ प्रस्थान करता है।

बारात प्रस्थान की सूचना बन्दूक दाग कर दी जाती है। वधू के घर में बारात का पारम्परिक ढंग से भव्य स्वागत किया जाता है। वधू पक्ष की अविवाहित लड़कियां या आमन्त्रित {धिआंनियां} जाईयां अर्थात् विवाहित लड़कियां बारात का स्वागत थाली में पुष्प मालाओं, धूप, तथा टीका लगा कर करती हैं इस समय स्वागत गीत भी गाये जाते हैं जिन्हें 'लाणे' कहा जाता है। बाराती शगुन के तौर पर उनकी थाली में पैसे डालते हैं। बारातियों को चाय नाश्ता आदि दिया जाता है। तत्पश्चात् वे लोग विश्राम करते हैं क्योंकि अक्सर पैदल ही दूर-दूर तक चलना पड़ता है। उसके पश्चात् बाराती तथा अन्य सभी

खाना खाते हैं । इस मध्य लड़कियां 'लाडसु' से वर की कटार छीनने तथा चुराने/छिपाने की कोशिश में लगी रहती है यदि वे इसमें सफल हो जाती हैं तो बारातियों तथा लाड़सु को उसे वापिस प्राप्त करने के लिये मुंह मांगी भेंट देनी पड़ती है, अतः बाराती तथा लाडसु इस मामले में पूरी तरह चौकस रहते हैं क्योंकि कटार के बिना विवाह की बाकी रस्में पूरी नहीं की जा सकतीं । खाना खाने के पश्चात् लड़कियां उस जगह एकत्रित हो जाती हैं जहां पर बारातियों के रहने की व्यवस्था होती है और बारातियों से मेहदीं मांगती हैं। मेंहदी प्राप्त होने पर 'लाडसु' तथा वधू के हाथ में मेंहदी लगाई जाती है और अन्य सभी उपस्थित लोग, युवक युवतियाँ भी एक दूसरे के हाथ में मेंहदी लगाते हैं। इसे बहुत अच्छा शगुन माना जाता है। मेंहदी की रस्म होने के पश्चात् बुजुर्ग लोग विश्राम करने या सोने चले जाते हैं । बाकी विवाहित-अविवाहित युवक-युवतियाँ नाचने गाने में व्यस्त हो जाते हैं । जिसे 'जातरे लगाणा' कहा जाता है। यह कार्यक्रम लगभग रात भर चलता है । प्रातः होने पर पंडित द्वारा बताये गये शुभ लग्न में 'सिर गुंदणे' की रस्म होती है जिसे 'सुहाग लगाणा" भी कहा जाता है । सुहाग लगाते समय लड़कियां आभूषणों से लेकर श्रृंगार प्रसाधन के छोटे से छोटे सामान की मांग बारातियों से गीत गाते हुये करती हैं और सुहागनें वधू का श्रृंगार करती जाती है। इस समय बारातियों तथा'लाड़सु' की चतुराई की परीक्षा भी ली जाती है। यदि श्रृंगार प्रसाधन के सामान में कोई भी चीज वे लोग उपलब्ध न करवा सकें तो इसके लिये उन्हें 'डाण्ड' देना पड़ता है दण्डस्वरूप अक्सर रूपये आदि ही दिये जाते हैं ।

वधू का जब पूर्ण श्रृंगार हो जाता है तब 'टीका लगाने' की रस्म होती है इसमें वधू के घर आमन्त्रित सभी लोग अपनी सामर्थ्य अनुसार रूपये तथा उपहार वधु को देते हैं साथ ही उसे टीका लगाते जाते हैं । 'टीका' रस्म के उपरान्त विदाई की रस्म होती है और वधू को बारातियों को सौंप दिया जाता है । इस मध्य बाराती लोग नाश्ता कर चुके होते हैं । वधू का पिता वधू को बाजे-गाजे ‖लोक वाद्य यन्त्रों‖ के शोर के बीच विदा करता है । जब वधू विदा होती है उसके साथ वधू पक्ष के निकट सम्बन्धी पुरूष तथा एक-दो महिलाएं भी वर के घर तक जाती ही हैं। इनके अतिरिक्त वधू पक्ष की तरफ से अन्य भी काफी लोग वधू के साथ जाते हैं । जिनका वर के घर में बारात की तरह लाणे पुष्प मालाओं के साथ स्वागत होता है। वर के गांव की सीमा पर वर तथा अन्य सम्बन्धी,मित्रगण वधू,लाड़सु और अन्य सभी लोगों के स्वागत के लिये उपस्थित होते हैं। नाचते गाते सभी लोग गांव में प्रवेश करते हैं और वर वधू को पहले से सजाये गये लग्न मण्डप में बिठाया जाता है जहां सारी रस्मे विधि विधान के साथ पूरी की जाती है फेरे होते हैं और कन्या का मामा कन्यादान करता तत् पश्चात् 'गृह प्रवेश' की रस्म होती है गृह प्रवेश के पश्चात् पूरे विवाह की सबसे प्रमुख रस्म चूल्हे की पूजा जिसे स्थानीय भाषा में 'चूल पूजणा' कहा जाता है होती है। यहां यह

उल्लेखनीय है कि इस प्रथा में यह आवश्यक नहीं कि लग्न मण्डप हो और फेरे भी अवश्य ही हों । इस प्रथा के अन्तर्गत 'चूल पूजणा' सबसे आवश्यक और प्रमुख रस्म है । इसके बिना विवाह की रस्मों को पूर्ण नहीं समझा जाता । 'चूल पूजणे' के साथ ही विवाह सम्पन्न हो जाता है । एक तरफ लोग खाना खाने लगते हैं दूसरी तरफ नाँच गाने का जो दौर शुरू होता है वह सुबह के उजाले के साथ ही समाप्त होता है । दूसरे दिन सारे आमन्त्रित लोगों तथा गाँव वालों को प्रीति भोज दिया जाता है । प्रीतिभोज के पश्चात् एक अन्य रस्म है– 'लाड़े को नचाणा' अर्थात् वर को सब लोगों के सामने नृत्य करना होता है जिसमें उसके मित्र आदि भी सम्मिलित होते हैं । इस कार्यक्रम के बाद वधू के साथ आये लोगों में पांच-सात को छोड़ कर शेष सभी वापिस चले जाते हैं जो पीछे रह जाते हैं उन्हे 'बोठे कहा जाता है । ये लोग विवाह के तीसरे या पांचवें दिन जब वधू फेरा डालने जाती है, जिसे 'दुणौज बदलना' कहा जाता है उस समय जाते हैं वर वधू के साथ इन लोगों के अतिरिक्त वर के घर से तीन या पांच अन्य व्यक्ति भी जाते हैं जो दूसरे ही दिन वापिस आ जाते हैं । इस तरह से रोहड़ू क्षेत्र में विवाह पूर्ण होता है ।

इस क्षेत्र के विवाहों की सबसे बड़ी विशेषता तथा प्रशंसनीय बात यह है कि यहां पर दहेज का रिवाज न होने के बराबर है। विवाह के अवसर पर वधू पक्ष से कुछ भी नहीं लिया जाता है । यदि कोई माता-पिता देना ही चाहें तो पलंग, बिस्तर, कुर्सी मेज़ आदि दे देते हैं । अन्यथा वधू के वस्त्रों के अतिरिक्त कुछ भी नहीं दिया जाता है। वर का दूल्हे के रूप में वधू के घर जाना भी शायद इसी बात का परिचायक है। कि यदि वर बारात लेकर जाये तो सभी रिश्तेदार बारात में शामिल होना चाहेंगे साथ ही वधू के पिता को वर को वस्त्रों ,अंगूठी घड़ी तथा अन्य साज-सामान भी देना पड़ता है जो कि कभी-कभी वधू के परिवार वालों के सामर्थ्य से बाहर की बात होती है । इसलिये इस क्षेत्र के विवाहों में लड़के वालों को जहां दिल खोल कर खर्च करना पड़ता है वहां वधू पक्ष के ऊपर इसका तनिक भी भार नहीं पड़ता है । लेकिन अब धीरे-धीरे दहेज का दानव इस क्षेत्र को भी अपनी गिरफ्त में लेने लगा है क्योंकि अब लड़कियां जिद करके बड़ी बड़ी चीजों की मांग अपने माता-पिता से करने लगी हैं क्योंकि उनके दिलो-दिमाग में यह बात घर करती जा रही है कि यदि उनके साथ दहेज दिया जाएगा तो वे ससुराल में श्रेष्ठ समझी जावेगी । यह शुभ शकुन नहीं है।

-तारा काटेज, अपर कैथू, शिमला -3

गुलेर की अक्षय बावड़ी-वत्सकूप

—गिरिधर योगेश्वर

ऐतिहासिक गांव गुलेर का वत्सकूप सम्भवतः गुलेर रियासत का प्राचीनतम् स्थल रहा है। गुलेर राज्य की स्थापना काँगड़ा राज्य के कटोच नरेश श्री हरिचन्द द्वारा 1415 ई0 के लगभग हुई मानी जाती है। छोटा भाई कर्मचन्द कांगड़ा का राजा रहा जबकि राजा हरिचन्द ने गुलेर नाम से नया राज्य स्थापित किया। शिकार खेलते-खेलते राजा हरिचन्द का कांगड़ा से इस ओर आने, फिर भटक कर हरसर में गहनकूप में गिरने; उधर उसकी मृत्यु हुई मान कर रानियों इत्यादि के सती हो जाने, हरिचन्द को सौदागरों द्वारा कुएं से निकालने, विरक्त हुए राजा द्वारा कांगडा राज्य का सर्वथा परित्याग व गुलेर राज्य की स्थापना कुछ ऐसी घटनाएं हैं जो यहां बच्चा-बच्चा जानता है। गुलेर के ही निकटवर्ती स्थान पर अपने नाम से 'हरिपुर' नगर बसाने व किला बनवाने से पूर्व राजा हरिचन्द गुलेर अवश्य रहा होगा। रियासत का नाम गुलेर होना भी इस संभावना की पुष्टि करता है। हरिचन्द सर्व-प्रथम जिस स्थान पर गुलेर में रहा होगा, लेखक की मान्यता है कि वह स्थान वत्सकूप के साथ वाला 'देवकुल' ही था जो अब पूर्णतया ध्वस्त हो चुका है। परम्परा से गुलेर रियासत के राजाओं के मूहरे§मृतकों की मूर्तियां§ इसी स्थान पर रखे जाना भी उक्त मान्यता को बल देता है। सम्भवत गुलेर राज्य का संस्थापक नरेश सर्वप्रथम यहीं आकर रहा था-- उसी स्मृति को चिरस्थायी बनाने हेतु इस मूल स्थान पर तभी से राजवंश से सम्बन्धित मृतक राजाओं व रानियों की प्रतिमाएं रखे जाने की परम्परा चल पड़ी हो ।

वत्सकूप का स्थानीय नाम'बछूह' या 'बछूहा' है। गुलेर गांव को साहित्य में अमरत्व प्रदान करने वाले सुप्रसिद्ध साहित्यकार व पुरातत्व वेत्ता श्री चन्द्रधर शर्मा गुलेरी ने अपने निबन्ध 'देवकुल' में इसी 'वत्सकूप' का वर्णन करते हुए कहा है .."गांव के बाहर, श्मशान से पौन मील इधर बछूहा§वत्स+खूहा=वत्सकूप§ नामक जलाशय है। ....वत्सकूप तथा महादेव के मन्दिर के पूर्व में एक तिबारा सा है। वहां पर सैकड़ों प्रतिमाएं हैं, जिन्हें मूहरे§मोहरे§ कहते हैं।..... गुलेर के राजाओं तथा रानियों के मूहरे भी यहीं हैं।" बावड़ी के साथ,ठीक ऊपर प्राचीन शिवालय है। मुझे लाख ढूंढने पर भी पटवारी के कागजों में इस शिवालय का नाम न मिल सका। 1971-72 के बंदोवस्त की जमाबंदी में न तो कहीं 'बछूह' दर्ज है और न ही शिवालय। पर 76-77 के कागजात माल में खसरा न.2004 में 'बछुहा' तो दर्ज है, जबकि शिवालय का कहीं नामोनिशान नहीं । गांव-वासियों को ज्ञात ही नहीं है कि इस शिवालय का प्राचीन नाम'वत्सेश्वर महादेव' है । चन्द्रधर शर्मा गुलेरी ने भी इसे इसी नाम से लिखा है ।

गुलेर वासी श्री लेखराज अवस्थी, जो इस समय लगभग अस्सी वर्ष के हैं और स्टेशन मास्टर पद से रिटायर्ड हुए हैं, मेरे पूछने पर बताते हैं कि स्वर्गीय गुलेर नरेश श्री बलदेव सिंह ने कोई 55 वर्ष पूर्व एक भाषण में इस मन्दिर का नाम "वशेशर महादेव" 'वशेशर' §कांगड़ी§=वत्सेश्वर§संस्कृत§तथा निर्माण संवत् 317 बताया था। इसी कथन की पुष्टि राजपुरोहित श्री कीर्तिधर शर्मा गुलेरी जी ने भी की। वत्सेश्वर के नामकरण के पीछे दो कारण मालूम होते हैं-- वत्स=शिव-वाहन नंदी बैल; अथवा वत्स-कोई राजा, सम्भवतः प्राचीन प्रसिद्ध राजा वत्सराज उदयन। श्री लेखराज अवस्थी जोर देकर कहते हैं कि राजा साहिब ने 'बछूह' व 'वशेशर महादेव' का निर्माण सम्वत् 317 बताया था। हो सकताहै, उन्होंने अपने पूर्वजों से यह सुन रखा हो। अतः यह सम्भव है कि प्राचीन इतिहास प्रसिद्ध 'वत्सराज' का कोई सम्बन्ध यहां से हो । गुलेर राज्य के कतिपय अन्य मन्दिर भी बड़े प्राचीन है उदाहरणतया'प्रसिद्ध मसरूर मन्दिर'चौथी-पांचवी सदी का बताया जाता है जबकि कटोच-वंश का यहां नामों निशान नहीं था । इसमें कोई दो राय नहीं है कि राजा हरिचन्द से ही गुलेर राज्य की स्थापना मानी गई है, परन्तु साथ ही यह भी सच है कि 'गुलेर' हरिचन्द से भी पुराना गांव है, जिसे हरिचन्द ने अपना राज्य बनाने का सम्मान दिया था। हरिचन्द ने जो नया नगर अपने नाम से बसाया, वह बाण-गंगा§बनेर§ के उस पार'हरिपुर' है। हरिपुर में नगर बसाने व किला बनाने से पूर्व राजा हरिचन्द अवश्य गुलेर रहा होगा; और वह स्थान इस वत्सकूप के ही निकट होगा जिसे बाद में देवकुल के देवालय में बदल दिया गया होगा, जो आज केवल स्मृति शेष रहा है। चन्द्रधर शर्मा गुलेरी के बचपन में इस 'तिबारे' की छत गिर गई थी, पर खम्भे और कुछ दीवारें बची हुई थीं ।

वत्सकूप व वत्सेश्वर महादेव का निर्माण कह लें अथवा पुनरूदारा- राजा हरिचन्द के हाथों हुआ लगता है। इस तरह वत्सकूप समस्त गुलेर राज्य के अन्तर्गत आने वाली मंदिरों के समीपवर्ती बावड़ियों से प्राचीनतम है, क्योंकि अन्य बावड़ियां व मन्दिर राजा हरिचन्द के बाद के राजाओं-रानियों ने बनवाए हैं। मेरा विचार है कि यहां अवश्य कोई उस काल का शिलालेख रहा होगा जो बच्चों या मूढ़ों ने नष्ट कर दिया होगा। वत्सकूप की ओर वत्सेश्वर मन्दिर की दीवार में एक बड़ा 'ताक' है। ऐसे ही 'ताक' से कुछ मिलता-जुलता'ताक' गुलेर से 3 किलो मीटर दूर बिलासपरु नामक स्थान पर बने'विमला महिष मर्दिनी' देवी के मन्दिर में भी है। उस मन्दिर के साथ भी एक रमणीक बावड़ी है। उस ताक में शिला-खण्ड पर संस्कृत में उत्कीर्ण लेख आज भी सुरक्षित है,जिससे पता चलता है कि वह मन्दिर गुलेर नरेश दिलीप सिंह की माता रानी विलासा देवी ने विक्रमी संवत् 1756 में बनवाया था । वत्सेश्वर का 'ताक' से वहां शिला

खण्ड पर उत्कीर्ण लेख होने की धारणा को बल देता है। पं0चन्द्रधर जी ने ऐसे किसी शिलालेख की बात नहीं कही है । इसलिए कहना नहीं होगा कि शिलालेख उनसे पूर्व ही नष्ट या लुप्त हो चुका था। शिलालेख का बहुत पहले से लुप्त या नष्ट हो जाना भी वत्सकूप की प्राचीनता को ही सिद्ध करता है। राजा हरिचन्द का शासन - काल 1415 ई0 के आस-पास माना जाता है, अतः तभी से वत्सकूप व वत्सेश्वर मन्दिर का भी निर्माण काल अपने विद्यमान रूप में माना जाना समीचीन है। समय-समय पर इन स्थलों की मुरम्मत इत्यादि से इन्कार नहीं किया जा सकता।

वत्सकूप अथवा 'बछूह' गुलेर व इसके निकटवर्ती गांवो के लोगों का जीवनाधार है। भारी गर्मियों में जबकि अन्य कुएं व बावडियां सूख जाती हैं, वत्सकूप का जल 'अक्षय' बना रहता है। आज 'वाटर सप्लाई' विभाग की कृपा से जबकि घर-घर में 'नल' लग गए हैं-- वत्सकूप के महत्व में कुछ कमी आ गई है। अब यहां न तो पहले वाली स्वच्छता रही है,न ही सदा बहार रौनक फिर भी यही क्या कम नहीं कि पीने व भोजन बनाने के लिए लोग यहीं का जल प्रयोग करना उचित मानते हैं। वत्सकूप बावडी के दो भाग हैं-- जिन्हें स्थानीय भाषा में बाहरला बछूह{ बाहरी वत्सकूप} व अन्दरला बछूह{भीतरी वत्सकूप} कहते हैं। भीतरी वत्सकूप का जल केवल पीने के लिए ही प्रयुक्त होता है। यहां जूतों सहित प्रवेश वर्जित है। बाह्य वत्सकूप नहाने की बावड़ी है। निकट ही पशुओं के लिए जल पीने का स्थान बना है। इधर यद्यपि वस्त्र- प्रक्षालन _ वर्जित है, पर फिर भी लोग वहां वस्त्र आदि धोते ही हैं। भीतरी वत्सकूप की परिधि 14"×12" के लगभग है जो चारों ओर से 5" ऊंची दीवार से घिरी हुई हैं ऊपर कोई छत नहीं है। प्रवेश हेतु तीन-तीन फीट चौडे दो प्रवेश द्वार हैं एक मन्दिर की ओर से हैं, और दूसरा सामने से। सामने के प्रवेश द्वार के एक ओर हनुमान की व दूसरी ओर गणेश जी की भव्य प्रतिमा है। प्रतिमाएं अपनी निर्माणकला की विशेषता के कारण से आज भी कोई अधिक पुरानी नहीं लगती । श्रद्धालु इन पर सिंदूर चढ़ाकर इन्हें और भी दर्शनीय बना देते हैं। ये प्रतिमाएं 'ग्रेनाईट स्टोन' से बनी प्रतीत होती हैं, जिन पर बढ़िया चूने की परतें चढ़ाई गई हैं । आश्चर्य यह कि उक्त मूर्तिया 'शुद्ध चूने' को सांचे में जमा व पका कर निर्मित होने का आभास देती हैं ।

मेरा विचार है कि चित्रकला व साहित्य के अतिरिक्त इस ऐतिहासिक भूमि गुलेर की मूर्तिकला के क्षेत्र में भी देन अप्रतिम है। पुरात्तव व मूर्तिकला वेत्ताओं का इस ओर ध्यान खिंचे जाने की आवश्यकता है। स्नानानन्तर स्त्री-पुरूष उक्त मूतियों व वत्सेश्वर की पिंडी पर जल चढ़ाते हैं। प्राचीन काल की इन मूर्तियों का सुरक्षित रह जाना इनकी विशिष्टता को द्योतित करता है। भीतरी वत्सकूप का मूल-जलाशय 8" के लगभग लम्बा व 6" चौड़ा है। जल सतह की

सोमसी

गहराई 10" के लगभग होगी । इस आयताकार जलाशय की बनावट बहुत कुछ किसी विशाल 'देग' से मिलती जुलती है जिसके दोनों ओर की पौड़ियां दो 'हत्थो' सी प्रतीत होती हैं। भीतरे दोनों ओर पत्थारों पर सुन्दर चक्राकार फूलों की झालरें उत्कीर्ण हैं। जल भरनेके लिए समान आकार की तीन-तीन पौड़ियां दोनों ओर हैं। एक ओर से दो और पौड़ियां जल में डूबी रहती हैं। इस वत्सकूप का एक चमत्कार यह है कि इसकें तल पर फूटता अदम्य मूल स्त्रोत{ सीर} वत्सेश्वर के नीचे से निकला है। सन् 1925 में भारी सूखा{सकोई} पड़ा था। तब इस जलाशय को नीचे तक खोदा गया था। तब से इसमें कई और स्त्रोत भी फूटे हैं, जो इसका जल कभी कम नहीं होने देते। वत्सकूप व वत्सेश्वर मन्दिर की मुरम्मत गुलेर के एक सेठ श्री विष्णुदास पुरोहित ने 45 वर्ष पूर्व जन सहयोग से करवाई थी । सन् 1905 के भूकम्प में इस स्थान को भारी हानि पंहुची थी।

बाहरी वत्सकूप वर्गाकार है, लम्बाई चौड़ाई 5"×5" तथा गहराई 4" फुट के लगभग होगी। भीतरी वत्सकूप का जल लिंग्ड·नुमामुख द्वारा इस बावड़ी में गिरता है। 2"×5" फूट के इसके अहाते में लोग स्नान करते हैं और यदा-कदा वस्त्र भी धोते हैं। आगे पशुओं के लिए बना एक छप्पड़ भी था जो कब का भर गया है। वत्सकूप से बहता जल थोड़ा आगे जाकर बाण-गंगा में गिरता है। आज यद्यपि गुलेर में वे बुजुर्ग तो नहीं रहे जो ब्रह्म-मुहूर्त में ही इस वत्सकूप पर स्नान करते समय एक-दूसरे पर हंसी के फव्वारे छोड़ते और फिर घण्टों-घण्टों पलाथी मार कर मन्त्र-जाप करते-करते, समाधिस्थ हो जाते; न ही भक्ति-भावना से ओत-प्रोत वे माताएं ही रहीं जो कड़ाके की सर्दी में भी मुंह-अंधेरे ही घरों से निकल कर वत्सकूप के महिला-स्नानागार में नहाना व 'वत्सेश्वर' पर जल चढ़ाना अपना प्रथम पुण्य-कर्त्तव्य समझती थी। फिर भी प्रातः व सायं काल इन दिनों भी जल भरने वाली सुंदर मुटियारों की कोई कमी नहीं रहती। इसी दृश्य को अपने कालेज के दिनों में लिखी एक कांगड़ी-कविता के पद्य में मैंने यूं बांधा था--

"बछूए दा नज़ारा नीं जिंदगी च भुल्लदा ।
तिथु तीं जुआनिया दा रंग बड़ा डुल्लदा ।
दिने-राती तिथु तां भीड़ रहियो लगदी ।
हर दिन,हर बेले, हर गोरी संगदी ।।"

बाहरी बावड़ी के जल-मुख के ऊपर भी एक रेतीले पत्थर की गोलाकार त्रिमूर्ति स्थापित है। कोई 60 वर्ष पूर्व इस मूर्ति से सम्बन्धित घटित प्रसंग का जिक्र करते हुए श्री लेखराज अवस्थी बताते हैं कि यह भी उसी समय

की है जबका 'बछूह' व वशेश्र मन्दिर है। यह बात हिन्दू-मुस्लिम दंगे फसाद के एक फैसले में तत्कालीन कांगड़ा ज़िला के अंग्रेज मैजिस्ट्रेट मि0डिजनी§ ने कही थी। मुसलमान पहले बाहर की बावड़ी से पानी भरते थे, फिर कुछ शरारती तत्वों के बहकावे में आकर भीतर से भरने लगे। इस पर खून-खराबा हुआ। मुसलमान बाहरी बछूह को मुगल-काल में निर्मित बताते थे। स्वयं हिन्दू होने के कारण गुलेर-नरेश श्री बलदेव सिंह ने मुकद्दमा लेने से इन्कार कर दिया, और इसे ज़िला-मैजिस्ट्रेट को सौंप दिया। न्यायाधीश मि0डिजनी ने भीतरी वत्सकूप को तो प्राचीन बताया है, बाहरी वत्सकूप की त्रिमूर्ति को भी उसी काल का घोषित करते हुए मुसलमानों का यहां से भी जल-भरना बन्द करवा दिया। तब से वे एक अन्य जलाशय "हरवसबां" को ही उपयोग में लाने लगे ।

गांव-वासी अपने मृतकों के 'मूहरे' या तो बाहर की बावड़ी पर रखते हैं, अथवा "नदी" के चबूतरे पर। स्नानोपरान्त इन 'मूहरों' पर जल चढ़ाना वे पवित्र-कर्तव्य मानते हैं। श्री चन्द्रधर शर्मा गुलेरी भी अपने पितरों के "मूहरों" पर जल चढ़ाते थे । 'देवकुल' निबन्ध में ही उन्होंने लिखा हैं,"...गांव के बुढ़े पहचान लेते हैं कि यह अमुक का मूहरा है। कई वर्षों तक हम अपने पितामह की प्रतिमा को पहचानते तथा उस पर जल चढ़ाते थे।" वत्सेश्वर के साथ वाले मैदान में लोग मृतक के तेरहवें दिन क्रिया-कर्म करते व पिण्डदान देते हैं। इस मैदान के साथ ही 'वत्सेश्वर' के पुजारियों रावलों§रौलों§ के घर है।

वत्सकूप के एक ओर बाण गंगा है। बस्ती से यह तीन ओर से घिरा है-- पर है इससे कुछ हटकर । तभी बाहर से आये व्यक्ति को वत्सकूप शांत एकांत ही भासता है। निश्चय ही यहां का वातावरण बड़ा दिव्य व सम्मोहक है, मानों किसी ऋषि की तपस्थली हो। सर्वत्र हरियाली है--वृक्ष हैं, छांव है- बड़े पुरोहितों का बाग है। सामने हरिपुर नगरी में सीनियर सैकेण्डरी स्कूल और हाथी की पीठनुमा तुंग शैल-शिखर पर दमनदोष §दंदोछ§ माता का मन्दिर भी स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है। हरिपुर की पहाड़ी है की 'धार' के रूप में दीर्घतर होती गई है। कल-कल बहती बाणगंगा का संगीत,राजा हरिचन्द के समय का प्राचीन किला, वर्षा ऋतु में पौंग झील की अथाह-अथाह जल-राशि, उस पार सप्पड़ी शैल श्रृंखला में शांत-पवित्र गुफाएं,गुलेर-हरिपुर को जोड़ता बाण गंगा-बनेर पर का पुल--सब निस्संदेह स्वर्गिक दिव्य दृश्यावली प्रस्तुत करते है। कहने की आवश्यकता नहीं कि ऐतिहासिक गुलेर गांव की यह प्राचीनतम बावड़ी-'वत्सकूप' एक अमूल्य धरोहर है जिसकी सुरक्षा कई दृष्टियों से अत्यावश्यक है ।

पो0गुलेर§कांगड़ा§,हि0प्र0पिन-176028

डॉ० परमार की कला-अभिरुचि : कुछ संस्मरण

- किशोरी लाल वैद्य

मेरी स्मृति में कुछ ऐसे अवसर हैं जिनके आधार पर मैं कला के परिदृश्य में डॉ0 परमार की अभिरूचि का किंचित आकलन अथवा विश्लेषण करने की चेष्टा कर सकता हूँ। जब सितम्बर 1974 में लाहुल-स्पिति में मेरी नियुक्ति हुई तो उन्होंने स्वयं मुझे वहां की कला-थाती पर कार्य करने के लिए कहा था। उन्होंने कहा-"स्पिति का ताबो विहार 'हिमालय की अजन्ता' है। आप उस पर विशेष रूप से काम कीजिए।" इस सम्बन्ध में उन्होंने लिखित आदेश भी कर दिये। तब तक मुझे इस 'सीमान्त क्षेत्र' की विशेष जानकारी नहीं थी। मैंने यह तो स्वीकार किया कि 'ताबो विहार' हिमाचल प्रदेश की एक महान कला-थाती के रूप में हमारे यहां मौजूद हैं लेकिन डॉ0 परमार द्वारा उसे 'हिमालय की अजन्ता' कहने में क्या सार्थकता है, इसका मुझे ज्ञान नहीं था। अपने अध्ययन-अनुसंधान के दौरान मैंने यह पाया कि ताबो को यह नाम सुप्रसिद्ध बौद्ध कला-मर्मज्ञ स्नेलग्रोव ने दिया था। डॉ0 परमार प्रदेश की कला-धरोहर के संरक्षण पर तो बल दिया ही करते थे, वे यह भी चाहते थे कि उसका समुचित अध्ययन-अनुसंधान हो। डॉ0 परमार जब भी जनजातीय क्षेत्र लाहुल-स्पीति का दौरा करते, वे 'ताबो' विहार को देखना न भूलते। अन्यत्र जब भी अपने भाषणों में उन्होंने हिमाचल की महान कला-थाती की चर्चा की, ताबो विहार का जिक्र करना उनकी एक अनिवार्यता रही।

अक्तूबर 1975 की बात है। डॉ0 परमार लाहुल-स्पिति के दौरे से बरास्ता किन्नौर, शिमला वापिस आ रहे थे। इस दौरे में एक लोक सम्पर्क अधिकारी के नाते मुझे उनके साथ-साथ ही रहना था। रामपुर में तत्कालीन संसद सदस्य श्री वीरभद्र सिंह (वर्तमान मुख्यमन्त्री, हि॰ प्र॰) ने डॉ0 परमार को दोपहर के भोजन पर आमन्त्रित किया था। जहां भोजन की व्यवस्था की गई थी, वह कक्ष किन्हीं थोड़े से उम्दा रूपचित्रों से सज्जित था। डॉ0 परमार उन चित्रों को सरूचि देखने लगे। चित्रों का अवलोकन करते हुए मुझे लगा कि हो न हो ये चित्र मण्डी के विख्यात कलाकार गाहिया नरोत्तम की ही अंकित कृतियां हों क्योंकि उनके सम्बन्ध में मेरी यह निश्चित जानकारी थी कि उन्होंने कई तत्कालीन प्रमुख रियासतों में राजाओं के रूप-चित्र बनाये थे। किसी हद तक मैं उनकी कलम से भी परिचित था। अतः इस पृष्ठभूमि के साथ मैंने वीरभद्र सिंह जी से पूछा कि अमुक दो चित्र किस कलाकार द्वारा आलेखित किये गये हैं। राजा साहब ने जानकारी दी कि वे मण्डी के एक बड़े नामी कलाकार द्वारा बनाये गये हैं और जब उनके पिता जीवित थे, उसी दौरान उनका अंकन हुआ था। उन्हें उस समय कलाकार का नाम याद नहीं आ रहा था।

उनका उत्तर सुन कर मैंने बतलाया कि यह कलाकार प॰ नरोत्तम थे। श्री वीरभद्र सिंह ने उनके नाम की सम्पुष्टि की। तब मैंने डॉ0 परमार से जो उन चित्रों को सरुचि निहार रहे थे, मुखातिब होकर कहा, "ये चित्र उन्हीं पंडित नरोत्तम द्वारा अंकित किये गये हैं जिनके पुत्र पंडित ज्वालाप्रसाद ने कुछ अर्सा पूर्व आपका रूपचित्र तैयार किया था"।

पंडित ज्वालाप्रसाद द्वारा आलेखित डॉ0 परमार के जिस रूप-चित्र का मैंने जिक्र किया है, उस सम्बन्ध में भी मैं एक संस्मरण का उल्लेख करना चाहूंगा क्योंकि उससे भी डॉ॰ परमार के व्यक्तित्व एवं कला-अभिरुचि का किंचित संकेत मिलता है। पैंसठ वर्षीय पंडित ज्वाला प्रसाद ने डॉ0 परमार का एक तैलरंगी रूप-चित्र तैयार किया था। उन्हें वह डॉ0 परमार को भेंट करना था। वह यह नहीं चाहते थे कि दफ्तर की व्यस्तता के बीच वे डॉ0 परमार को वह चित्र दे आयें और एक कलाकृति गुमनामी के अंधेरे में खो जाए। मैंने डॉ0 परमार के प्रेस-सचिव श्री हेमेन्द्र वैद्य से बात की कि वे पंडित ज्वालाप्रसाद के लिए डॉ0 परमार से उनके आवास में मिलने का समय लेने में उनकी मदद करें। समय निश्चित हो गया। सुबह नौ बजे मैं पंडित ज्वाला प्रसाद जी को लेकर ओक-ओवर चला गया। ज्यों ही डॉ0 परमार निचली मंजिल में आ कर अपने कमरे में बैठे, उन्होंने कुछ ही देर में हमें भीतर बुला लिया। डॅा0 परमार ने अपने रूप-चित्र को ध्यान से देखा। उनकी मुद्रा-भाव से स्पष्ट था कि वे इस चित्र को एक लगाव से देख रहे थे लेकिन तभी इसे स्वीकार करते हुए उन्होंने जो कुछ कहा उससे लगा जैसे उन्होंने इस प्रतिकृति को एक झटके से अलग कर लिया हो। यह उस रूपछवि का अस्वीकार नहीं था बल्कि कलाकार की तूलिका के माध्यम से एक व्यक्ति की छवि को कनवास पर उतार कर उसे कलाकृति का दर्जा दिये जाने जैसी जो चेष्टा की गई थी, डॉ0 परमार उस भाव विशेष से विचलित हो गये थे। रूपचित्र को स्वीकार करते हुए उन्होंने कलाकार से कहा कि "आपने इतनी लगन और मेहनत से यह चित्र तैयार किया है पर मैं इसे रखूंगा कहां? मेरे पास तो इसे रखने के लिए जगह ही नहीं है।"

इस पर वयोवृद्ध पंडित ज्वालाप्रसाद तो क्या कहते लेकिन एक कलाकार की अपनी कलाकृति से लगाव की जो अनुभूति होती है, उसे निर्दिष्ट कर मैंने कहा "यह महज एक मुख्य मंत्री का चित्र नहीं है। यह एक उम्दा कलाकृति है, अतः इसका महत्व उस नाते है।" इस पर डॉ0 परमार खामोश हो गये। मैं नहीं जानता था कि उन पर मेरी बात की क्या प्रतिक्रिया हुई होगी क्योंकि अक्सर बड़े औहदों पर आसीन लोगों के पास स्पष्टवादिता के लिए कान नहीं होते। स्वयं पंडित ज्वालाप्रसाद डॉ0 परमार की प्रतिक्रिया से क्षुब्ध थे। उन्होंने मुझ से इतना ही सा कहा, "यह क्या बात हुई कि मेरे पास इसे रखने के लिए स्थान

नहीं है" । आज जब मैं डॉ0 परमार से सम्बद्ध इस घटना को याद करता हूँ तो मेरे मन में डॉ0परमार की प्रतिक्रिया को लेकर कोई क्षोभ नहीं है। आज मैं सोचता हूँ कि डॉ0 परमार ने एक बड़ी सच्चाई पूरी ईमानदारी से कह डाली थी। वह प्रत्यक्षतः जैसी भी मालूम दी लेकिन वह उनके अन्तस की गहराई से निकला एक ऐसा प्रश्न था जो कलाकार को सम्बोधित नहीं था बल्कि स्वयं उन्हें ही सम्बोधित था।

आज जब मैं इस घटना पर सोचता हूँ तो मैं उन सब बातों को भी एक नई दृष्टि से सोचने पर विवश हूँ जिनके परिप्रेक्ष्य में डॉ0 परमार की एक छवि स्वयं मेरे कला-मानस पर उभरती रही थी ।

इसी सन्दर्भ में एक अन्य घटना याद आती है। अपने मुख्य मन्त्रित्व के दौरान एक बार वे कांगड़ा घाटी के दौरे पर गये थे । उस समय वे कांगडा घाटी के सन्त कलाकार सरदार सोभा सिंह के पास अन्द्रेटा में उनसे मिलने गये। यों भी सरदार सोभा सिंह का व्यक्तित्व एवं कृतित्व ऐसा था कि सामान्यतः कोई भी व्यक्ति उनसे मिलने का इच्छुक रहा है। यह वह गरिमामय व्यक्तित्व था जिसके कारण दार जी से मिलने वाले व्यक्तियों में भारत के राष्ट्रपति से लेकर साधारण ग्रामीण व्यक्ति तक को देखा जा सकता था। जब डॉ0 परमार दार जी के आवास पर उनसे मिलने गये तो वे आध-पौने घण्टे तक उनके पास उनके निजी कमरे में ही बैठे रहे । दार जी जिस कमरे में रात को विश्राम करते थे, वहीं उनका स्टूडियो भी था। इसी कमरे में बातचीत के बाद जब डॉक्टर साहब से किसी ने कहा कि वे दार जी की आर्ट-गैलरी भी देख लें तो उनका उत्तर था कि आज तो मैं सरदार साहब से ही मिलने आया हूँ । आर्ट गैलरी देखने तो फिर आऊंगा श्रीमती परमार को लेकर । उस समय से कुछ अर्सा पूर्व ही वे सत्या जी से अपने विवाह की घोषणा कर चुके थे। और सम्भवतः उन्हें ऐसी फुर्सत की अपेक्षा थी जब वे एक महान कलाकार की कलाकृतियों को उसके ही कला-परिवेश में अच्छी तरह देख पाते ।

सरदार सोभा सिंह डॉ0 परमार का एक रूप-चित्र बनाना चाहते थे और वह उन्होंने बनाया भी लेकिन स्वयं डॉ0 परमार की अपने ही रूप चित्रण के विषय में सम्भवतः वही पुराना प्रश्न उठता कि मैं उसे रखूंगा कहां ? इस प्रश्न का उत्तर स्वयं उनके पास नहीं था लेकिन आज जब हम श्रद्धावश यह मान लेते हैं कि आज का हंसता-गाता गतिशील हिमाचल ही उनकी यादगार है तो डॉ0 परमार का प्रश्न फिर जीवन्त हो उठता है जिसका उत्तर न स्वर्गीय ज्वालाप्रसाद को ही देना था और न स्वयं डॉ0 परमार को । यह प्रश्न उस

प्रदेश और प्रदेशवासियों को मुखातिब है जिन्होंनें उन्हें हिमाचल -निर्माता कह कर सम्बोधित किया है । डॉ0 परमार का अपना घर यदि है भी तो अपना नहीं है और यदि सम्पूर्ण हिमाचल ही उनका अपना घर रहा हो तो उसे आज हम कैसे समझेंगे और कैसे भावी पीढ़ियों को समझायेंगे ।

शैलजा, संजौली, शिमला - 171006

डॉ0 परमार की कला अभिरुचि

कांगड़ा जनपद-मृत्यु गीतों के परिप्रेक्ष्य में

- त्रिलोक मेहरा-

मृत्यु एक दुःखदायी समाचार है और इसे सुनकर रिश्तेदारों और प्रियजनों द्वारा रोना-धोना स्वाभाविक है। अकाल मृत्यु हो, तब तो गहरा सदमा पहुंचता है। साठ-सहत्तर वर्ष जी चुकने के पश्चात् यदि कोई काल ग्रास बने तो प्रायः सरसरी तौर पर अफसोस जता कर यही कहते हैं- कोई बात नहीं, उमर भोग कर ही मरा है । परन्तु ग्राम्य प्रान्त में किसी सम्पन्न परिवार के किसी वयोवृद्ध की मृत्यु हो जाए और गीत गाए जाएं-- कैसी विचित्र परम्परा लगती है ? हिमाचल प्रदेश के निचले क्षेत्र में लुप्त होती हुई यह प्रथा अब भी निभाई जाती है ।

परिवार में पुत्र-पौत्र, पुत्री-पौत्रियां हों, परिवार के सब कार्य सुचारू रूप से पूर्ण हो रहे हों और पहले की अपेक्षा खुशहाली हो तथा परिवार के बुजुर्ग की मृत्यु हो जाए । अपने फलते-फूलते परिवार को छोड़कर स्वर्ग सिधारना एक हर्ष का अवसर माना जाता है । परिवार-जनों के लिए यह हर्ष का विषय ही है कि मृतक ने अपने सभी फर्ज निभाए और परिवार के किसी व्यक्ति पर किसी प्रकार की देनदारी नहीं रहने दी । अर्थी प्रस्थान की तैयारी होने लगती है । इलाके के जाने-माने श्मशान घाट पर दाह-संस्कार की बात चलती है । अर्थी को विशेष रूप से सजाया जाता है । कफन के ऊपर गोटा जुड़ा रंगीन प्रायः लाल कपड़ा जिसे स्थानीय भाषा मे चांदनी कहते है, लगाई जाती है । शव यात्रा मे ढोल,शहनाई,वीणा और कभी-कभी बैण्ड भी बजता है । इस समय बजने वाली धुन अलग तरह की होती है और इसे "ढड" कहते हैं ।

इस दिन से ही सहानुभूतों के आगमन का तान्ता बन्धना शुरू हो जाता है । औरतें लाहणी गाती हैं । वे मौत को नमाणी कहकर पुकारती हैं। नमाणी का अर्थ है-- बेचारी, असहाय । अर्थात इतने वर्षों तक क्रूर मौत की कोई चाल न चली । अब वह सफल हुई है। वे गाती हैं:-

मौत नमाणी आई है--बड़ परिवारिये जो, हरि बोलो ।
हरि बोलो, वावला, हरिबोलो ।
रतड़ा पलंग पलाटया,धरतनी संहदी भार भी,
बड़ परिवारिये जो, हरि बोलो ।

मृतक के परिवार व सम्बन्धी अपना श्रृंगार करना त्याग देते हैं । मर्द दाढ़ी नहीं बनाते, औरतें आभूषण खोल देती हैं और बालों को गूंथना बन्द हो जाता है । स्त्रियां विलाप करती हैं--

नके दियां डुलियां बेसरा, बड़ परिवारिये....।
सिरे दियां खुलियां मींडिया, बड़ परिवारिये....हरि बोलो ।

बाहर रौंदियां तेरियां जाइयां,बड़ परिवारिये जो, हरि बोलो ।
पंचां पाइयां काठियां,
शंखां दी घनघोर है, बड़ परिवारिये जो हरि बोलो ।

पुरूष की मृत्यु हो तो उसकी पत्नी एक मास भर तड़के उठ कर आंगन के कोने पर रोती है। दूसरा व्यक्ति या स्त्री उसके मुंह पर से हाथों और टुप्पटे के पल्ले को हटाते हैं ताकि वह रोना बन्द कर दे । इसे मुंह छूना कहते हैं । वृद्ध की मौत के अवसर पर औरतें विलाप करती हैं कि मौत कहा से आ गई ? स्वर्ग से ही मौत आई और वहीं से चिटठ्यां आई--

मौत नमाणी आई मेरे वावला, मौत नमाणी आई ।
कुथु ते आइयां चिटठ्यां मेरे वावला, कुत्थु ते आई मौत ।
सुरगे ते आईयां चिठ्ठियां मेरे वावला सुरगे ते आई मौत ।

वृद्ध की सन्तान अलग-अलग बस चुकी है । वह खुशहाल है । वह उसके लिए नन्हें-नन्हें पंछी ही हैं जो बड़े होने पर अपनी अपनी करने लग पड़े। इसी भाव को यों कहा है :-

चिडुआं-पखेरूआं घर बंध्या, मेरे वावले जो वनवास जी ।
नदी किनारे मेरे वावला घर बंध्या नीऊआं रखिआ दरवाजा जी ।

जब बाल-बच्चे अलग हो गए हैं तो वृद्ध ने भी अपना घर नदी किनारे बसा लिया है । वृद्ध के घर की विशेषता है कि दरवाजे बहुत ऊंचे नहीं रखे हैं ।

शिव संहारक है और पार्वती मातृत्व । यहां पार्वती और यमराज को याद किया गया है। यमराज ने स्वर्ग से लिखकर चिटठ्यां भेजीं और अपने मृत्यु सन्देश को स्वयं प्राणी ने पढ़ा है । इस तरह--

स्वर्गे ते आइयां चिटठियां-- माए पार्वती ।
किन्हीं लिखियां, किन्हीं वाचियां-- माए पार्वती ।
धर्मराजे लिखियां, प्राणिये वाचियां--माए पार्वती ।

अब आते हैं 'वार' यानी अफसोस प्रकट करने के दिन । मंगल और रविवार को छोड़कर शेष दिन मृतक के घर अफसोस प्रकट करने के दिन होते है । उस दिन चावल के भुने आटे में चीनी,काली मिर्च मिला कर उसके लड्डुओं जैसे गोले बनाकर बांटे जाते हैं , इन गोलो को पिन्नी कहा जाता है । आज अब बून्दी के लडडू बांटने की प्रथा प्रचलित होने लगी है । पिन्नी बांटने का अभिप्राय है सन्तान अपने बुजुर्ग का क्रिया कर्म प्रसन्नतापूर्वक कर रही है। मृत्यु और जन्म के अवसर की प्रसन्नता में अन्तर है इसीलिए इस प्रसन्नता या

निवृति को प्रकट करने का तरीका भी सात्विक है अतः साधारण पिन्नियां बांटी जाती हैं । जैसे जन्मोत्सव पर औरतें उलाहना भरती गाती हैं--

इसा चणियां वंडदिया जो शर्म न आई वो,
दूई दाणिया दे ताईं ।

इसी भाव को वार में इस तरह प्रकट किया गया है :-

पिन्निए नी, पंज पाई फिन्नी । हाय-हाय, फिन्नी ।
पिन्निए नी, दस सेरी फिन्नी । हाय-हाय, फिन्नी ।

फिर चलता है सिलसिला मृतक के कार्य कलापों के स्वांग उतारने का । मास भर या वर्ष में जब कभी भी मृतक की पौत्रियां, दूहिताएं और अन्य सम्बन्धी उसके जैसे सम्वाद बोलती हैं,नकली हुक्का पीती हैं; घास की मूछें लगाती हैं । संक्षेप में, उसके जीवन की झांकियां पेश करती हैं । कभी-कभी पुरुष भी इन एकांकियों में भाग लेते हैं । इतने में ही बात समाप्त नहीं हो जाती । कभी कभी डट कर नाच-गान किया जाता है । सोहलवें यानि मृत्यु के सोहलवें दिन नाच-गान को अधिक महत्व दिया जाता है।

मृत्यु,मृत्यु है । गीतों में विषाद है, यमलोक की स्मृति है और मीठा बांटते हुए भी हाया जैसे आन्तरिक दुःख सूचक शब्दों का प्रयोग है । इन्हीं गीतों में मृतक का भार धरती नहीं सहती हैतभी मौत आई ।

गांव-मेड़ा, डा0 भवारना
तह0 पालमपुर ज़िला कांगड़ा, हि0 प्र0

मान्यता की कसौटी पर घुण्डा नाग

-नरेन्द्र अरुण

हिमाचल प्रदेश के अस्तित्व में आने से पूर्व घूण्ड क्षेत्र कुम्हारसेन राणाओं की बपौती रहा, परन्तु अप्रैल 1948 को जिला शिमला की सभी रियासतों का विलय हिमाचल प्रदेश के नए प्रान्तों में हो गया । इस समय घूण्ड क्षेत्र जिला शिमला की कोटखाई उप-तहसील का एक भाग है। घूण्डा' नाग की स्थापना घूण्ड क्षेत्र के घूण्ड गांव में ही है । लगभग 6 हजार फुट की ऊंचाई पर आकाश की ऊंचाईयों की ओर लपकता हुआ तींन मंजिला 'घूण्डा' नाग देवता का मन्दिर आकर्षण का केन्द्र है ।

शिमला, ठियोग, छैला, गुम्मा तथा हुली जैसे स्थानों की सर्पिली सड़क घूण्ड हिम्मरी की ओर खिसकती है । बस द्वारा पहुंच-मार्ग अब सुगम हो गया है । गुम्मा से यदि ' शार्ट-कट' मार्ग अपनाना हो तो सर्व प्रथम लगभग आधा किलोमीटर नीचे उतर कर गिरी गंगा का पुल पार करना पड़ता है । लोहे के रस्सों पर लकड़ी के अधटूटे पुल को पार करना भी एक साहसी कार्य है । पुल के ऊपर चलते ही पुल थर-थर कांपने लगता है और हृदय की गति तीव्र हो जाती है । पुल पार करने के पश्चात् घूण्डं धार की तलहटी में कुछ हरे भरे खेत लहलहाते दिखाई दिये । समतल खेतों का हरियालापन मन को मोहने लगा । खेतों के आस-पास जगह-जगह ईटों के ढेर दिखाई दिये । पूछने पर महेन्द्र सिंह कंवर ने बताया कि यहीं पर प्रगति-नगर की आधार शिला रखी जा चुकी है । समय का अन्तराल और प्रगति के चरण आने वाले कल में इन हरे-भरे खेतों की हरियाली को समूचे ही निगल जाएगें । घूण्ड की तरफ आगे बढ़े तो सैन्ज में खराणू देवता का मन्दिर आया । खराणू देवता के मन्दिर से होते हुए डुण्डु-बांए और करियालटा होते हुए हम घूण्ड पहुंचे । लगभग तीन किलोमीटर की सीधी चढ़ाई पार करने के पश्चात् थकान का महसूस होना स्वाभाविक था । कंवर शेर सिंह जी के यहां ही हमें विश्राम करना था । थोड़ा विश्राम कर लेने के पश्चात् कंवर शेर सिंह के साथ 'घूण्डा' नाग देवता के मन्दिर के प्रांगण में पहुचें ।

घूण्डा-धार पर स्थित यह मन्दिर लगभग एक हजार वर्ष पुराना है । अभी कुछ दिनों पहले कंवर शेर सिंह की देखरेख में मन्दिर का जीर्णोद्वार हुआ है । मन्दिर का प्रवेश द्वार बहुत पुराना है । द्वार को पार करने के पश्चात् मध्य में खुला प्रांगण और दांए-बांए मकान बने हैं । इन का प्रयोग मन्दिर के हित में ही होता है । बांई ओर के बने कक्ष मन्दिर में आगन्तुकों के लिए सराय का काम देते हैं और दांई वाला कुठार {कक्ष} मन्दिर के मूल

भण्डार के रूप में व्यवस्थित है । प्रांगण में पत्थर बिछे हुए हैं । प्रांगण स्वच्छ और चारों ओर बैठने के लिए तनिक ऊँची दीवार । प्रायः इसी प्रांगण में 'घूण्डा' नाग देवता अपने भक्तों को दर्शन देते हैं । यात्रा या मेलों पर जाती या आती बार यहां पर ही तनिक विश्राम कर फिर भीतर चले जाते हैं।

प्रांगण के ठीक सामने मध्य में 'घूण्डा-नाग' देवता का तीन मंजिला मन्दिर अपनी काष्ठ कला की अनुपम धरोहर संजोए हुए है । मन्दिर का सामने वाला तथा दायां अधिकांश भाग काष्ठ पर उभरे हुए चित्रों के द्वारा अपनी कहानी आप कहता है । मन्दिर की पहली मंजिल के आधार के मध्य एक साँप को टंकित किया गया है, लगता है जैसे मन्दिर का समस्त भार नाग देवता अपने वक्ष पर सम्भाले हुये हैं। तीनों मंजिलों तक लकड़ी की कशीदाकारी में पौराणिक मिथाकों के चिन्ह अंकित हैं । मन्दिर के मध्य भाग में ब्रह्मा जी और विष्णु जी की आकृतियां आकर्षक बन पड़ी हैं । तारा मण्डल की भूल-भुलैया का चित्रण सचमुच दर्शक को चकित कर देता है । मन्दिर के दायीं ओर दूसरी मंजिल के पास नाग माता अपने नाग को स्तन-पान कराती हुई दिखाई है । मन्दिर के मध्य भाग में कृष्ण तथा दांए-बांए गोपियों की नृत्य मुद्रा वृन्दावन में रास रचाने के दृश्य को उत्पन्न करती हैं । मन्दिर में वर्तमान जीर्णोद्वार के समय लकड़ी के कुशल चितेरे ने कंवर शेर सिंह, कंवर मोहन लाल के चित्रांकन के साथ-साथ अपनी तस्वीर भी 'वसोला' लेकर लकड़ी तरासते हुए बनाई है। मन्दिर के सम्पूर्ण चित्र को भी कारीगर ने बड़ी कुशलता से चित्रित किया है । समस्त मन्दिर में लकड़ी पर बने बेल-बूटों का कार्य भी सराहनीय है । परकोटा शैली के मन्दिर के शैल शिखर पर तीन कलश विद्यमान हैं। मन्दिर के पार्श्व भाग में छोटा सा प्रांगण, जिस के साथ चिपका हुआ है काली माता का थाल {स्थान} यह कोई अलग मन्दिर नहीं परन्तु जन विश्वास के आधार पर जब नाग देवता तीर्थ यात्रा से लौटते हैं तब तीर्थ यात्रा का पवित्र ज़ल यहां समर्पित किया जाता है ।

मन्दिर की तीसरी और अन्तिम मंजिल तक पहुंचने के लिए भीतर ही भीतर सीढ़ियां हैं । 'घूण्डा नाग' देवता की मूल प्रतिमा इसी तीसरी मंजिल में विद्यमान है । पीतल के चमचमाते मुखौटों में 'घूण्डा नाग' की दो प्रतिमाएं हैं । पहली छोटी प्रतिमा जो मूल रूप में स्वीकार की जाती है तथा दूसरी बड़ी जिसे कालान्तर में बना कर स्थापित किया गया । तीसरा मुखौटा 'घूण्डा नाग' की माता भूरी देवी के रूप में पूजित है चौथी प्रतिमा दुर्गा की है । पाचवां और अन्तिम मुखौटा शिरगुल देवता का है । सभी मुखौटों का अपना ही तेज आकर्षण और प्रभाव हैं ।

मन्दिर में नाग देवता की पूजा प्रति दिन नियमित रूप से होती है । प्रति मास पुजारी बदल दिए जाते हैं । वर्ष के इन बारह महीनों में क्रमशः पं0 गौरी नन्द, शिवराम, बालका, हीरा, रामा, बेलिया, आत्मा राम, केशव राम, सैमटा, हरिदत्त, श्यामा तथा अम्बा दत्त को ही पूजा का अधिकार है। इन सभी पंडितों में गांव भड़ेच के वरिष्ठ वयोवृद्ध पण्डित गौरी नन्द बड़े पुजारी भी हैं और देवता के 'गुर' भी । मन्दिर का समस्त कार्यभार वहां की एक कमेटी देखती है। मंदिर के संरक्षक कंवर शेर सिंह की अध्यक्षता में कंवर मोहन लाल मुख्य ट्रस्टी के रूप में कमेटी के साथ मन्दिर के सभी कार्यों में मन वचन एवं कर्म की समर्पित भावना स कार्य करते हैं ।

'घूण्डा' नाग देवता किस प्रकार घूण्डा-धार में अवतरित हुए थे इस सम्बन्ध में प्रचलित दन्त कथा इस प्रकार है :-

घूण्डाधार के ठीक सामने पूर्वोत्तर दिशा में चंगावरी खड्ड के उस पार एक गांव है चढ़ियाणा, यही नाग देवता का मूल जन्म-स्थल स्वीकार किया जाता है । वर्षों पुरानी बात है कि चढ़ियाणा गांव में एक परिवार रहता था उस दम्पति के कोई सन्तान न थी । भाग्य का खेल कि देवी- देवताओं की मन्नतों के आर्शीवाद से स्त्री गर्भवती हो गई । पति-पत्नी के हर्ष का ठिकाना न रहा । परन्तु होनी को तो कुछ और ही मन्जूर था । भाग्य की विडम्बना कि नौ मास पूरे होने पर स्त्री ने जिस बच्चे को जन्म दिया वह सांप था । लोक लाज के कारण स्त्री मूक रही । धीरे-धीरे दोनों को भय महसूस होने लगा कि एक न एक दिन तो चढ़ियाणा गांव वालों को सांप के पैदा होने की खबर हो जाएगी । समाज उन को गौण दृष्टि से देखेगा उनको ताने मारेगा । दोनों दिन रात इसी चिन्ता मे घुलते जा रहे थे । सांप बड़ा होने लगा । एक दिन सांप-बेटे ने कहा "मां, अब मैं बड़ा होने लगा हूँ तुम्हारा भय और आशंका स्वाभाविक है मुझे नीचे की मंजिल में गुप्त रूप से रखो तथा ऊपर की मंजिल से एक तख्ते में बड़ा सुराख बना कर मुझे तुम दूध पिलाया करना" । अपने बेटे के मुख से मनुष्य की वाणी सुन कर मां अचम्भित रह गई । पति से विचार विमर्श हुआ तो दोनों ने स्वीकार किया कि बेटे का कहना मानने में ही हित है । अस्तु सांप नीचे की मंजिल में रहने लगा और मां अपने बेटे को ऊपर की मंजिल से स्तन-पान कराती रही । एक दिन फिर सांप ने कहा--

"मां! अब मैं बहुत बड़ा हो गया हूँ मेरा यहां रहना उचित नहीं, मैं कल प्रातः चार बजे चला जाऊंगा परन्तु जाने से पहले प्रातः सूप और झाड़ू लेकर आना तीन बार मेरी पूंछ को झाड़ू से बुहारना और आगे सूप 'रखना', मैं तुम्हारा कर्ज जाने से पहले चुकाना चाहता हूं जिससे मैं जन्म-लेने के ऋण से मुक्त हो सकूं ।"

प्रातः होते ही मां निचली मंजिल में गई । किवाड़ खोले । बेटे के कथनानुसार सांप को झाड़ू से जैसे ही पहली बार बुहारा वह यह देख कर अचम्भित रह गई कि उसका सूप स्वर्ण-मुद्राओं से भर गया । तीनों बार बुहारने पर स्वर्ण मुद्राओं का ढेर लग गया । सांप चलने लगा । मां ने उसे पूंछ से पकड़ लिया और जाने से रोकने लगी परन्तु सांप ने तो जाना ही था । सांप ने बहुत समझाया परन्तु मां ने बात न मानी । आगे-आगे सांप तीव्रगति से रेंगता गया और पीछे-पीछे मां पथरीले ढंकारो से लुढ़कती गई परन्तु न जाने किस लालच या कारण से सांप की दुम नहीं छोड़ी । मां-बेटे की यह खींचा तानी चंगावरी खड्ड तक चलती रही । अन्त में जब मां अपनी ज़िद पर अड़ी रही तो बेटे को गुस्सा आ गया । मां को अपनी दुम में कस कर लपेटा और उछाल-फैंका । जन-श्रुति के आधार पर स्वीकार किया जाता है नाग देवता की मां मीलों दूर उत्तर-पश्चिम दिशा में 'चोल-टिब्बा' नामक पहाड़ से टकराई और आज भी वहां पर टिब्बे की चट्टान में स्त्री की आकृति अंकित है । आज वह स्त्री चोल टिब्बा में दुर्गा माता के रूप में भूरी देवी के नाम से पूजित है और तीज त्योहारों के दिन नाग माता की आज भी भूरी देवी के नाम पर पूजा होती है । चढ़ियाणा गांव में अमूक परिवार का वह घर अब मन्दिर की प्रतिष्ठा को प्राप्त कर चुका है तथा जिस सुराख से मां अपने सांप बेटे को दूध पिलाया करती थी वह आज भी विद्यमान है ।

अपनी मां को इस प्रकार आवेश में चोल के टिब्बे पर पटकने के पश्चात सांप अदृश्य हो गया । लोक कथा के आधार पर जहां सांप अदृश्य हुआ वहां पर कुछ दिनों में झाड़-झखाड़ और घास उग आया। करड़ी घास आज भी उस स्थान पर मौजूद है ।

कालान्तर में एक ग्वाला अपने गांव की गउओं को वहां चराया करता था । धीरे-धीरे ग्वाले पर यह लांछन लगने शुरू हुए कि वह वन में गाय का दूध पी जाता है । परन्तु ग्वाला स्वयं हैरान था कि दूधारू गऊओं का दूध आखिर जाता कहां है । लोगों के तानों की बौछारों से वह तंग आया तो उसे एक योजना सूझी कि क्यों न इन गायों का सावधानी से पीछा करूं आखिर वे अपना दूध कहां छोड़तीं हैं । ग्वाले को अपने उद्देश्य में सफलता मिली और एक दिन उसने देखा कि दूधारू गऊयें करड़ी घास में एक स्थान पर एकत्र होकर अपने स्तनों से दूध छोड़ती हैं । प्रसन्नता के कारण वह फूला न समाया। अब उसने अपने मन में विचार किया कि वह यह घटना जब गांव वालों को सुनाएगा तो उस पर लगे सभी आरोप समाप्त हो जाएगें । शाम को जब गांव लौटा तो उसने यह अभूतपूर्व घटना सुनाई । गांव वालों को उसकी बातों पर तनिक भी विश्वास न आया । ग्वाले ने अगले दिन उन लोगों से घटना

स्थल पर आने का आग्रह किया । कुछ इने-गिने वयोवृद्ध मान गए और दूसरे दिन घटना स्थल पर चोरी छिपे पंहुचे । आखिर ग्वाले की बात सच निकली। गांव के लोग यह करिश्मा देख कर जड़वत हो गए । सांझ ढली तो गांव की चौपाल पर इस घटना की खुल कर चर्चा हुई । बुढ़े लोगों ने कहा निश्चित ही वह देवी स्थल है क्यों न वहां खुदाई की जाए । लोगों ने उनकी बात मान ली । निर्दिष्ट स्थान की खुदाई हुई तो वहां पर सांप के दर्शन हुए । खुदाई बन्द हुई । गांव के लोग एक साधू को पकड़ कर लाए । साधू ने जैसे ही सांप को देखा उसे काटने का सुझाव दिया । तलवार की तेज धार से सांप का सिर धड़ से जुदा हुआ वह भगराड़ी, खड्ड में जा गिरा । दूसरे वार से धड़ जुदा हुआ वह घूण्डा गांव में पड़ा तथा पूंछ उछल कर बाघी गांव में पहुंची। आज भी इन्हीं तीनों स्थानों पर नाग देवता के मन्दिर हैं ।

सांप के इस प्रकार मारे जाने के पश्चात् खुदाई हुई । खुदाई में एक मुखौटा मिला। मुखौटा जिस देवता का था वह नाग देवता ही था । मुखौटे की गर्दन में बने नाग से यह बात स्पष्ट थी कि वह नाग देवता ही है । आज भी घूण्डा में नाग देवता की वह मूल प्रतिमा -मुखौटे के रूप में विद्यमान है जिस पर खुदाई के समय बने कस्सी का निशान साफ दिखाई देता है । घूण्ड गांव में इस प्रकार देवी चमत्कार से उपलब्ध नाग देवता की मूर्ति को लाया गया। शुभ लगन मुहूर्त विचारने के पश्चात् घूण्डा नाग देवता की स्थापना की गई और मन्दिर का निर्माण हुआ ।

जन विश्वास के आधार पर यह स्वीकार किया जाता है कि घूण्डा नाग देवता के इस प्रकार अस्तित्व में आने से पूर्व भी घूण्डा और इसके निकटवर्ती क्षेत्र में जिस देवता की पूजा प्रतिष्ठा की जाती थी जिसका मान-सम्मान था और जिस का राज था उसे शिरगुल देवता के नाम से पूजा जाता था । दन्त कथा के आधार पर नाग देवता की स्थापना से पूर्व कहते हैं कि शिरगुल देवता की आज्ञा प्राप्त करने लिए स्वयं 'घूण्डा नाग' ने शिरगुल-देवता की स्थाली में शरण मांगी, शिरगुल देवता से विनम्र संधि की और बड़े चैन से घूण्ड क्षेत्र में राज्य करने लगा ।

काल का चक्र बड़ी तीव्र गति से आगे बढ़ता रहा, उसी गति के साथ 'घूण्डा नाग' देवता को भी मान्यता मिलती गई । लोगों की मन्नते पूरी होने लगी और विश्वास बढ़ने लगा। धीरे-धीरे 'घूण्डा नाग' देवता ने घूण्डा के अतिरिक्त भड़ेच, कोठी, ग्रैण, चटोली के क्षेत्रों में, गागड़, चढ़ियाणा, मचरोरी, पुड़ग, दयाल भुईला देवरी, जैतो, डकाल, ढाली, क्यारी, भगराड़ा तथा बाघी नाला के क्षेत्रों में, सैंज, अणु और कटाच के क्षेत्रों में अपनी धाक जमा दी परन्तु कोटखाई के अधिकांश क्षेत्रों में घूण्डा नाग देवता की मान्यता फलने फूलने

लगी ।

नाग देवता का अस्तित्व जब पूरी तरह से घूण्डा तथा निकटवर्ती क्षेत्रों में स्थापित हो गया । तब धीरे-धीरे वह मन्दिर से बाहिर भी निकलने लगा।। तीज त्योहारों पर नाग देवता बाहिर निकलता, अपनी पूजा में घूमता उनका दुख अपने में समेट कर उनको सुख प्रदान करता । आज भी नाग देवता के अपने क्षेत्र में बाहिर निकलने के निम्नलिखित निश्चित कार्यक्रम हैं :-

- {क} प्रत्येक संक्रान्त को गिरि गंगा में स्नान करने के निमित्त
- {ख} प्रत्येक नव वर्ष की सक्रान्त पर दरबार लगाने के निमित्त।
- {ग} तथा प्रत्येक वर्ष पुड़ग के मेले पर पुड़ग के देवता महाशिव को मिलने के निमित्त ।

घूण्डा देवता गिरि गंगा में प्रत्येक संक्रान्त को स्नान करने की इच्छा प्रकट करते हैं । उन के इस आदेश का पालन मन्दिर की कमेटी तथा मन्दिर के कारदार करते हैं । प्रातः अढ़ाई बजे से ही संक्रान्त के दिन मन्दिर कमेटी के ट्रस्टी कंवर मोहन लाल, गुर पण्डित गौरी नन्द तथा अन्य कारदार भक्त जनों के साथ देवता नाग को गिरि गंगा स्नान के लिए ले जाते हैं । वह पावन स्थान जहां नाग देवता स्नान करते हैं खोड़ू कहलाता है । अढ़ाई बजे के पश्चात् नाग देवता अपने दलबल के साथ स्नान के लिए प्रस्थान करते हैं । उनका पहला पड़ाव चमयाणा बावड़ी होता है । तदोपरान्त गिरि गंगा में खोड़ के स्थान पर पहुंचते हैं । गिरि गंगा स्नान होता है और वे लौट आते हैं । संक्रान्त के दिन सभी श्रद्धालु अपने नाग देवता के दर्शन करने को पुण्य समझते हैं । सारा दिन दर्शन करने वालों का तांता लगा रहता है । छोटे पूजन की प्रक्रिया के साथ संक्रान्त समाप्त हो जाती है ।

नव वर्ष की पहली सक्रांत का अपना ही विशिष्ट महत्व होता है है। प्रायः नव वर्ष के एक दिन पूर्व संक्रान्त से पहले सभी गांव वालो को एक बड़ई वृक्ष दूर जंगल से काट कर लाना होता है । बड़ई वृक्ष को वे लोग निर्धारित लग्न-मुहूर्त में काट कर लाते हैं । गांव के प्रत्येक परिवार से एक-एक सदस्य बड़ई-वृक्ष को लाने के लिए जाता है राणाओं के शासनकाल में यह प्रथा तो कुम्हार-सैन के राणाओं की ओर से पूरी की जाती थी परन्तु घूण्डा क्षेत्र का हिमाचल बन जाने के कारण कोटखाई में आने से अब मात्र कोटखाई के लोग ही इस प्रथा को पूरी करते हैं । अधिकांश योगदान घूण्डा ग्राम के निवासियों का ही होता है ।

नव वर्ष की सक्रान्त के दिन बड़ई वृक्ष को सजाया और संवारा जाता है । वृक्ष में ब्रास के फूलों को गुंफित किया जाता है । मंदिर के बाहिर दायीं ओर भण्डार-भवन के पास ही पूर्व दिशा में वृक्ष को खड़ा किया जाता

है । वृक्ष की चोटी पर ब्रास के फूलों सहित कुछ रोटियां भी एक पवित्र-पुटलस में बांधी जाती हैं । बड्ई वृक्ष का पूजन मुख्य पण्डित गौरी नन्द गुर द्वारा सम्पन्न होता हैं । बड्ई वृक्ष से ब्रास के फूलों से गुत्थी लम्बी-लम्बी मालाओं को मन्दिर से बांध कर कंवर शेर सिंह के घर तक लाया जाता है । बड्ई वृक्ष तथा मालाओं का गुम्फन आने वाले वर्ष के लिए मंगल का सूचक होता है । इस दिन नाग देवता की बड़ी पूजा होती है । नाग देवता को मान्यता प्रदान करने वाले सभी क्षेत्रों से यहां पहुंच कर नए वर्ष में देवता के दर्शन करते हैं । अपनी मनौतियों को भरते हैं । मनौतियों को मानते हैं और स्मृति चिन्ह के तौर पर लोहे के कड़ों को मन्दिर के बाहिर दीवार में गाड़ देने की प्रथा हैं । लोहे के वे कड़े उन की मनौतियों के सूचक होते हैं । जैसे जैसे नाग देवता के दर्शन के लिए भीड़ एकत्र होने लगती है वैसे-वैसे भीड़ मेले का रूप धारण कर लेती है । घूण्डा धार और आस-पास की घाटियां लोक वाद्य-यन्त्रों, ढोल ढमाकों और लोक गीतों की सुरीली धुनों से गूंजने लगती हैं । सांझ ढले तक नृत्य का रंगारंग कार्यक्रम चलता रहता है । सांध्य पूजन के पश्चात् भी नृत्य चलता रहता हैं । दूर दराज से आए हुए श्रद्धालु तो लौट जाते हैं। मन्दिर के प्रांगण में सांध्य नृत्य जमने के पश्चात् कंवर शेर सिंह के आंगन में भी नृत्य प्रदर्शन की प्रथा है । प्रायः अमुक नर्तक मन्दिर में नृत्य के पश्चात् लगभग उन्हीं घरों में नृत्य मालाएं लगाते हैं ज़हां से उन्हें कुछ आर्थिक लाभ होता हैं और पैसे मिलते हैं । इस प्रकार के नृत्यों का प्रदर्शन 'ढाकी' परिवार से सम्बद्ध होता है । प्रायः इसी ढाकी परिवार के सदस्य नाग देवता के मन्दिर के बजंतरी भी होते हैं । ढोल, नगाड़ा भाण, शहनाई, झारी आदि लोक वाद्य यन्त्रों को बजाने में ये सिद्धहस्त परिवार परम्परागत ढाकी परिवारों से ही होते हैं । लोक संगीत कला में प्रवीण, वाद्य यन्त्रों के बजाने में निपुण ढाकी कलाकार मन मोह लेते हैं एक बार ।

'घूण्डा नाग' की स्मरणीय यात्रा तो पुड़ग के मेले पर महादेव शिव मिलन के निमित्त होती है । जन विश्वास के आधार पर पुड्ग के महाशिव तथा घूण्डा के नाग देवता में धर्म का भाईचारा है । नौ, दस तथा ग्यारह बैशाख को लगने वाले विशु मेले में 'घूण्डा नाग' देवता अपनी पूरी तैयारी के साथ धूम धड़ाके से बाजे गाजे को लेकर झूमता हुआ पुड्ग की ओर प्रस्थान करता है । जैसे ही 'घूण्डा नाग' देवता के आगमन की सूचना पुड्ग के महाशिव को होती है वह अपने धर्म भाई के स्वागत के लिए पुड्ग बावड़ी पर मिलता है। दोनों देवताओं के पावन मिलन का दृश्य विशु में एकत्र हजारों की संख्या में जमा भीड़ देखती है । पुड्ग देवता नौ तथा ग्यारह बैशाख को ही मेलें में निकलते हैं । दसवें बैशाख को मन्दिर के भीतर ही रहते हैं । महाशिव पुड्ग के खुले

प्रांगण में विशु मेले का आनन्द पुड़ग निवासी चारों ओर से अपने बरामदों से बैठ कर ही ले सकते हैं । महाशिव का अतिथि सत्कार भोगने के पश्चात् घूण्डा नाग सहर्ष वापिस लौटते हैं । पुड़ग के विशु मेले में दस-बारह वर्ष पूर्व ग्राम-प्रान्तर के अन्य देवता गण भी भाग लेते थे परन्तु एक बार परस्पर विरोध होने पर लड़ाई हुई और देवताओं ने आना बन्द कर दिया ।

घूण्डा देवता के सम्मान में दिया जाने वाला 'बलटी' अथवा भूण्डा यज्ञ भी 'घूण्डा नाग' देवता की संस्कृति का अभिन्न अंग है । यह बकरे की बलियों का यज्ञ 'बलटी' अथवा भूण्डा हर तीसरे वर्ष मनाया जाता है । नाग देवता के इस पावन पर्व पर सभी श्रद्धालु अपनी-अपनी मनौतियों के अनुसार बकरों की बलियां देते हैं । 'बलटी यज्ञ' महोत्सव के दिन हजारों की संख्या में श्रद्धालु एकत्र हो कर बलटी यज्ञ में श्रद्धानुसार अपनी-अपनी आहूतियां प्रदान करते हैं । बलियों के इस कार्यक्रम में सर्वप्रथम तीन बलियां मन्दिर की छत के ऊपर जिसे लोक भाषा में 'शीख' या शिखा कहते हैं, के ऊपर चढ़ कर दी जाती हैं । बलियों का यह प्राथमिक दृश्य देखने वाला होता है । गुर पण्डित गौरी नन्द वयोवृद्ध अन्य पुजारियों के साथ शिखा के पास छत पर छत की कुरड़ पर चढ़ता है अपने हाथों से दैवी बल से बकरों को ऊपर आकाश की ओर उठाता है। मंत्रोच्चारण करता है और उसके तुरन्त बाद बलियों का सिलसिला प्रारम्भ हो जाता है । सब से पहले छत की कुरड़ पर तीन बलियां दी जाती हैं:-

{क} पहली बलि भूरी माता-नाग देवता की मां के लिए होती है।

{ख} दूसरी बलि चढ़याणा गांव की ओर नाग देवता की जन्मभूमि की स्मृति में समर्पण की जाती है तथा

{ग} तीसरी बलि घूण्ड देवता के निमित्त स्थापना स्मृति के रूप में दी जाती है ।

उपरोक्त तीनों बलियां मंदिर के छत पर कुरड़ और शिखा या शीख के मध्यस्थ सम्पन्न होती हैं । जैसे ही तीनों बलियां समाप्त होती हैं वैसे ही प्रांगण में अन्य बलियों का सिलसिला शुरू हो जाता है । देखते ही देखते पच्चास साठ बकरों की बलि दी जाती है । लोगों का कहना था कि राणाओं के समय इन बलियों की संख्या दो तीन सौ से भी अधिक होती थी परन्तु प्रजा-तन्त्र में धीरे-धीरे बलियों का रिवाज कम होने लगा है । बलियों का कार्यक्रम और भूण्डा यज्ञ की पूजा के समाप्त होते ही एक बार फिर लोक लहरी के संगीत की धुनें और नर्तकों के समूह नृत्य मालाओं के रूप में उभरते हैं । इस समय धार्मिक लोक गाथाओं एवं लोक नृत्यों का प्रावधान रहता है। श्रद्धालु भक्त-जन शेष दिनचर्या को नृत्य मेले के रूप में मनाते हैं । देवते की ओर से एक विशाल भण्डारे का आयोजन भी होता है सभी लोग सहर्ष बलटी भूण्डा यज्ञ में भाग लेकर अपने को कृतार्थ समझते हैं ।

अन्य देवताओं की तरह 'घूण्डा नाग' देवता भी एक लम्बे समय के अन्तराल के बाद तीर्थ यात्रा पर निकलता है । यह तीर्थ यात्रा केदारनाथ की होती है । अमुक यात्रा लगभग पन्द्रह-बीस या बीस-पच्चीस वर्षों बाद की जाती है। तीर्थ यात्रा पर जाने के लिए गुर भण्डारी और अन्य कारदार साथ जाते हैं । केदारनाथ की यह यात्रा बीस/पच्चीस दिन से कम नहीं होती । 'घूण्डा नाग' देवता केदारनाथ यात्रा के समय भिन्न-भिन्न पड़ावों पर अपना डेरा जमाता है --

§1§ पहला पड़ाव घूण्डा गांव के समीप ही चम्याणा गांव में होता है ।

§2§ दूसरा पड़ाव गिरि गंगा--यहां पर देवता घूण्डानाग यात्रा पर प्रस्थान करने से पूर्व खोड्डू नामक स्थान पर स्नान करते हैं तथा अगले दिन यात्रा पर प्रस्थान करते हैं ।

§3§ वापसी पर घूण्डा नाग देवता हाट-कोटी में हाटकेश्वरी मां के यहां मत्था टेकने जाता है और मां हाटकेश्वरी का आशीर्वाद प्राप्त करने के बाद कोटखाई की ओर प्रस्थान करता है ।

§4§ तीर्थ यात्रा से वापसी पर खोड़ नामक पड़ाव पर फिर ठहरता है तथा गिरि गंगा में स्नान का सम्पूर्ण आनन्द लेता है।

§5§ लौटती बार देवता का अन्तिम पड़ाव फिर चम्याणा गांव ही होता है।

केदारनाथ की यात्रा के समाप्त होने पर देवता की ओर से प्रसाद के रूप में विशाल भण्डारे का आयोजन होता है । ध्यातव्य है कि देवता के तीर्थ यात्रा के समय देवता की अनुपस्थिति में लगभग सभी शुभ कार्य बन्द रहते हैं ।उनकी वापसी पर ही सभी कार्यों को प्रारम्भ करना शुभ समझा जाता है ।

घूण्डा नाग देवता के सम्बन्ध में कुछ जन- विश्वास बड़े विचित्र ढंग के हैं यथा :-

§1§ जब कभी कोई घटना घटित होने की सम्भावना होती है तब नाग देवता स्वयं सर्प के रूप में प्रगट हो कर भक्तों को दर्शन देते हैं ।

§2§ सच्चे मन से नाग देवता के प्रति विश्वास रखने वालों की मनौतियां अविलम्ब स्वीकार की जाती हैं ।

§3§ देवता छूत-छात के प्रति सदैव सतर्क है । किसी भी हरिजन जाति का मंदिर के भीतर प्रवेश वर्जित है । यहां तक कि मंदिर का जीर्णोद्वार करने वाले कारीगरों द्वारा कार्य सम्पन्न हो जाने पर मन्दिर की शुद्वि के लिए प्रावधान है । शुद्वि का निवारण बकरे की बलि दे कर ही किया जाता है

§4§ देवता 'घूण्डा नाग' किसी भी मूल्य पर भैंस का दूध/घी स्वीकार नहीं करता यहां तक 'घूण्डा नाग' के अधिकृत क्षेत्र में लोग भैंसे भी नहीं रखते । जन विश्वास है कि यदि वे भैसों को पालेंगे तो भैंसे दूध नहीं देंगी और मृत्यु को प्राप्त होंगी ।

§5§ मन्दिर में किसी भी प्रकार के पूजन या आरती के लिए केवल गाय के घी को स्वीकारा जाता है और वह गाय का घी या तो मन्दिर के गुर के घर से आना चाहिए या कंवर शेर सिंह के । प्रतिदिन की पूजा के लिए गाय के घी की व्यवस्था आज भी शेर सिंह जी के घर से होती है।

घूण्डा नाग देवता सचमुच अपरिमित शक्ति वाला देवता है । वह अपनी सुरक्षा स्वयं करता है । उन्हें किसी भी प्रकार की चौकीदारी की आवश्यकता नहीं । इस तथ्य का प्रमाण हमें एक घटना से मिलता है --

विश्वसनीय है कि कुछ वर्ष पहले चार चोरों ने घूण्डा-मन्दिर में चोरी की योजना बनाई । वे पहले भी शर्मला, मानणा, कुठाण, शाड़ी तथा घूण्डा गावों में देवता के मन्दिरों से मूर्तियां चुराने में सफल हो चुके थे । अंधेरी रात में जैसे ही वे घूण्डा-मन्दिर के समीप पंहुचे उन्हें ऐसा आभास हुआ मानो वहां बहुत से लोग हों । परन्तु सावधानी से छिप कर देखा तो वहां कोई भी नहीं था । जैसे ही वे मुख्य द्वार पर पहुंचे कि नाग देवता प्रत्यक्ष रूप में प्रकट हुए और इन चारों को भगाया ।चोर अपनी जान की सुरक्षा के लिए 'हिम्मरी' के रास्ते भागे परन्तु नागो नाले तक पहुंचते पहुंचते बेहोश हो गए । नाग देवता अदृश्य हो गए । मधान में जब पुलिस द्वारा वे चोर पकड़े गए तो उन्होंने घूण्डा नाग से अपनी जीवन सुरक्षा का भयावह अनुभव भी सुनाया। घूण्डा गांव में इस घटना का पता बहुत देर बाद लगा । बेटौत गांव के पण्डित ने पुरोहित जी को पांच रूपये नाग देवता के मन्दिर में चढ़ाने के लिए नारायण दास चौहान के पास दिए । चोरी की इस घटना के पता चलने पर कवंर शेर सिंह ने नाग देवता से जानना चाहा । नाग देवता नाराज हो गए और कहा मेरे स्थल को पहले शुद्ध किया जाए फिर बात करूंगा । मन्दिर के नियमों के अनुसार बकरे की बलि दी गई । स्थान को पवित्र किया गया तब कहीं नाग देवता ने स्वीकारा कि मुझे ताले लगाते या मेरे दरवाज़ों को लोहे की जंजीरो से बांधने का कोई लाभ नहीं । मैं उन्मुक्त रहना जानता हूँ और अपनी सुरक्षा स्वयं कर सकता हूँ ।

'घूण्डा नाग' देवता के उद्भव और विकास की कहानी कवंर शेर सिंह के मुखार्विन्द से सुन कर निश्चित रूप से विश्वास कर लेना पड़ा कि घूण्डा नाग

देवता अपने क्षेत्र का शक्तिशाली देवता है । अपने श्रद्धालुओं की सुरक्षा करता है । निकटवर्ती देवी -देवताओं से मैत्री रखने के कारण और अधिक यश का भोगी बन गया है । यहां यह कहना अतिशयोक्ति नहीं कि मान्यता की कसौटी पर घूण्डा-नाग सचमुच कोटखाई क्षेत्र के लोगों के मानस पटल पर अंकित है।

रा0मा0 सरस्वती नगर,
तहसील जुब्बल, ज़िला शिमला (हि0प्र0)

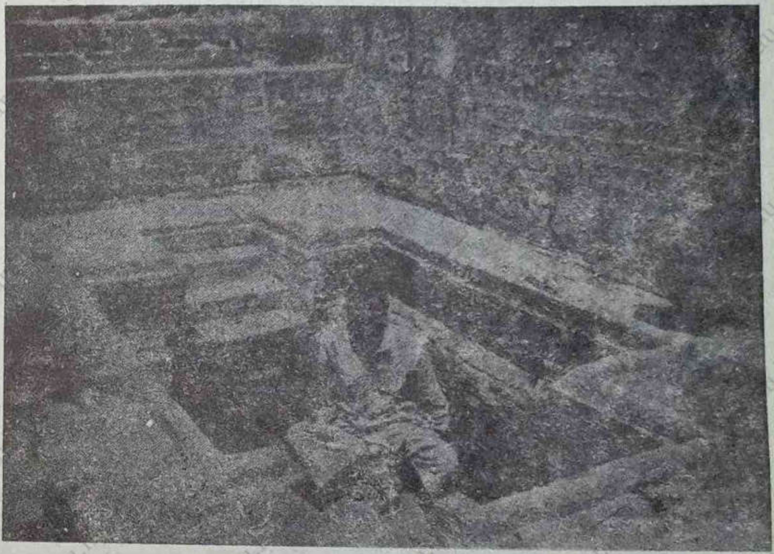

भीतरी "वत्सकूप" वत्सेश्वर का पुजारी रावल बैठा हुआ
(छाया: गिरिधर "योगेश्वर")

मण्डलगढ़

-कृष्ण चन्द्र काएथ

§घटना सन् 1810 ई0 से सन् 1816 ई0 के मध्य की है । जब गोरखा आक्रमणकारियों ने शिमला हिल्ज,सिरमौर और बिलासपुर के क्षेत्रों में आतंक फैला रखा था । उस समय के अन्तर्गत तहसील रोहड़ू और तहसील रामपुर की सीमा पर स्थित मण्डलगढ़ गोरखा सरदारों की एक सुदृढ़ छावनी माना जाता था । आज भी गोरखा सेना के द्वारा निर्मित गढ़ के कुछ-कुछ खण्डहर वहां देखने को मिलते हैं । जो इतिहास के तथ्य के जीते जागते प्रतिबिम्ब है ।

भारी ओलावृष्टि के बाद आसमान उस दिन दर्पण के समान साफ था धूप के ताप से धरती पर पड़े ओले गल रहे थे । जगह-जगह पानी के झर-झर झरने लगे थे । मण्डलगढ़ मे रह रहे गोरखा सैनिक अपनी-अपनी झोंपड़ियों से बाहर निकल कर धूप का आनन्द लेने लगे थे । लगभग सभी ने अपने पानी से भीगे कम्बल आदि वस्त्र इधर-उधर धूप मे सुखाने के लिए बिखेर दिये थे । कुछ गोरखाली सैनिक अपने गीत गुन गुना रहे थे। तभी ही काफी दूर निचाई मे पुजारली नामक गावं मे नगाड़े के बजने का स्वर कानों में पड़ने लगा । नगाड़े के बजने का स्वर सुनते ही लगभग सब ही सैनिक जैसे खुशी से झूम उठे । इसके साथ ही उनके मुंह से गोरखाली गीतों के स्वर जोर-जोर से प्रस्फुटित होने लगे । तभी एक गीत का स्वर सुनाई दिया :-

मेरे आ वोरियां केला खुशी रो भाव !
शुण ऐस बाजा भी तेरो जंआ आओ ।।

अर्थात् :- हे मेरे देश के दुश्मन आज तुझ में यह खुशी की लहर क्यों समा रही है । क्या तूने दूर गूंजते हुए नगाड़े का अर्थ अभी तक नहीं समझा है । यदि नहीं समझ में आया तो सुन अब तेरा अन्त आया ही समझ।

वास्तव में वे परदेसी हमलावर उस पहाड़ी गीत §लामण§ का अर्थ क्या समझ पाते । वे तो केवल नगाड़े की आवाज पर ही मस्ती में आकर झूम रहे थे । परन्तु उन्हें क्या पता था कि नगाड़े मे संगेड़ा§ यानी सब को एक स्थान पर तत्काल इकट्ठा होने का वाद्य संकेत था§ सारे परगने के खून्द §योद्धा§ उस रात देवता श्री महेश्वर के मन्दिर में इकट्ठा हुए । सारी रात आततायियों को मार भगाने की गुप्त योजना बनती रही । रात खुलने से पहले ही सब खून्द अपने-अपने गाँव की ओर चले गए। गोरखा कमांडर के गुप्तचर रात खुलते-खुलते ही गांव में दूध और लस्सी वसूलने के बहाने पहुंच तो गए थे परन्तु उनको रात भर बनती रही योजनाओं के बारे कुछ पता नहीं चला ।
उनको नगाड़े बजाने का कारण केवल देवता की पूजा करना ही बताया गया.

था । उन दिनों गोरखा कमाण्डर अमरसिंह थापा ऊगण टेकरी पर बने मण्डलगढ़ किले में न था । वह हाटू टिबे की ओर गया हुआ था । जहाँ पर गोरखा सेना की एक अच्छी खासी टुकड़ी पिछले पाँच साल से पड़ाव डाले हुए थी । कुमारसैन, रोहडू और रामपुर तहसील के लोगों से गोरखा सैनिक हर पन्द्रह दिनों के बाद गोरखाद कर जिसमें राशन-दूध, घी, तेल, बकरे तथा वस्त्रादि होते थे लेने आते थे ।

जो लोग गोरखाद{कर} नहीं देते थे उनको गोरखा सरदार कठोर से कठोर दण्ड देता था। जिस कारण बहुत सारे गांव उजड़ गये थे और लोग घने जगलों मे छुपकर जड़ी-बुटियों से अपना गुजारा करते थे ।

गोरखा सैनिकों ने इतना आतंक फैला रखा था कि बच्चों के हिस्से का दूध वे पी लेते थे । घर से परिवार के लिए बनाकर रखी रोटियाँ उठा ले जाते थे । भेड़-बकरियों को घसीट कर अपने पड़ाव में ले जाते थे ।

इक्के - दुक्के मर्द का अकेला बाहर घूमना खतरे से खाली नहीं होता था। खेती करते समय हर मर्द धणू -डांगरा {धनुष-फरसा} साथ रखते थे क्योंकि किसी भी घड़ी गोरखा सैनिकों से झूझना पड़ सकता था । स्त्री बच्चों का तो घर से बाहर निकलना उन दिनों बहुत ही कठिन था।

उस दिन खणेवग में गडारू देवता के मन्दिर के पास मेला लगने वाला था । ऊगण में गोरखा पलटने अच्छे-अच्छे कपड़े पहन कर मेले में सम्मिलित होने की तैयारी कर रही थी । अपने देश नेपाल को छोड़े न जाने कितनी सालें व्यतीत हो चुकी थीं । अब वे भी दूसरे के देश में रहते-रहते उकता से गये थे ।

श्री देवता महेश्वर का रथ खणेवग में पहुंचते ही पलटन के लगभग सारे सैनिक सज-धज कर मेले में आ गए । उस सात किन्छीनी, बेलू, बरकल, वच्छुच और समरैरी घोड़ी के लगभग सब ही 20 से 40 साल तक के नौजवान मेले में शामिल हो रहे थे ।

इतने सारे नौजवानों को देख - देख कर कुछ गोरखा सैनिक ईर्ष्या तक करने लग गए थे । इस बार नौंजवान लड़कियाँ भी भारी संख्या में मेले में उपस्थित थीं ।

मेला खूब जम चुका था । तरुणियों को देख - देख कर गोरखा सिपाही काफी आसक्त से हो रहे थे परन्तु क्षेत्रीय जवानों की बहु संख्या को देखकर कुछ कर पाने में अपने को असमर्थ महसूस कर रहे थे । फिर भी इक्के - दुक्के मनचले गोरखा सिपाही युवतियों को छेड़ने से बाज न आ सके ।

बुजुर्गों की आज्ञा के अनुसार क्षेत्रीय नौजवान युवक सब कुछ देखने पर भी अनदेखी कर रहे थे ।

दूसरे दिन मेला फिर लगना था । पहले दिन की रही सही कमी-पेशी दूसरे दिन ही पूरी करनी थी ।

सूर्य-अस्त के साथ ही सब लोग अपने स्थानों को लौटने लगे । मनचले गोरखे सिपाही भी जोर जोर से गोरखाली गीत गाते हुए मण्डलगढ़ की ओर जाने लगे ।

मरटी होकर जब कुछ सैनिक नागाधार पहुंचे तो वहां उन्होंने कुछ ग्रामीणों को धर दबोचा । उनके कब्जे से शराब के बड़े-बड़े दस घड़े छीन लिये और उन ग्रामीणों को पीट-पीट कर वहां से भगा दिया ।

दूसरी ओर से जब कुछ सैनिक मलूण होकर ऊगण जा रहे थे तो उन्होंने कुछ किलटियों{बांस का वही बर्तन जिसमें पका कर कचोड़ी और सिड़कू लड़की वाले अपनी लड़कियों को अपने घर से लाते हैं} को उठाए आदमियों को घेर लिया। उनसे किलटियां छीन कर उनको वहाँ से भगा दिया ।

कुछ अन्य ने भी किसी न किसी से खाने की कोई न कोई वस्तु छीन ली और सब वस्तुओं को लेकर अपने उप-कमाण्डर सूर्य थापा के सामने रख दिया । बने बनाए पकवानों और शराब के घड़ों को देखकर गोरखा सरदार की बान्छे खिल गईं ।

उसने एक घड़ा शराब और कुछ पकवान अपने कैम्प में रखवा दिए बाकी सब वहाँ पर उपस्थित अपनी पलटून के सिपाहियों और आफिसरों में मौजमस्ती मनाने के लिए भिजवा दिए ।

शराब का एक-एक घूंट पीने से ही सब सैनिक नशे में झूमने लगे वही दशा सरदार सूर्य थापा की हुई । उन्हें क्या मालूम था कि शराब में मोअरा और पोलडू{पकवान} में सुलफा{भांग} मिली हुई थी । यह सब योजना पुजारली में खून्दों ने तैयार की थी । ठीक आधी रात को मण्डलगढ़ पर खून्दों ने हमला कर दिया । किसी भी गोरखा सैनिक ने मुकबला न किया क्योंकि वे तो पहले ही शराब में मिले जहर के कारण बेहोश पड़े थे । खून्दो ने सब का सफाया कर दिया । उनके अस्त्र-शस्त्रों को कब्जे में ले लिया ।

इस विजय से 'समरैक' खून्दों के हौंसले बुलन्द हो गए। अगली प्रातः अपने सरदार अमर सिंह थापा के पहुँचने की सूचना लेकर कुछ सिपाही जब हाटू टिब्बा से मण्डलगढ़ छावनी पहुंचे तो वहाँ की बदली हुई दशा देखकर हैरान रह गए । सारी की सारी छावनी वीरान और लहू से लथ-पथ थी । अग्रिम सूचना लेकर पहुंचने वाले सैनिक वापिस हाटू की ओर भाग चले । जिनमें से

कुछ को घात लगाए गुरिल्ला ने मौत के घाट उतार दिया और कुछ अमरसिंह थापा तक पहुंच पाने में कामयाब हो गए। तब तक अमरसिंह थापा मण्डलगढ़ पहुंचने के लिए 'बागी' तक आ गया था । खबर सुनते ही वह आग बबूला हो गया । वह प्रतिशोध लेने के लिए हाटू छावनी को वापिस लौट पड़ा । परन्तु कुछ कोस आगे जाने पर हाटू की ओर से आने वाले सैनिकों ने बताया कि हाटू पर टिकम सिंह खून्द ने हमला कर दिया है और बहुत सारे सैनिक या तो मारे जा चुके हैं या भाग गए हैं । यह सुनते ही अमर सिंह थापा के होश हवास उड़ गए और वह उन दो चार सैनिकों को साथ लेकर कहीं अर्की की ओर भाग निकला । इस प्रकार इस सोची समझी योजना के साथ रियासत बुशैहर से गोरखों का सफाया किया गया ।

मण्डलगढ़ की छावनी-शत्रु से रिक्त हो गई । खणेवग में अगले दिन का मेला विजय उत्सव के रूप मे मनाया गया। आज भी गडारू देवता का मन्दिर वहां पर प्रतिष्ठित है और मेला अब जूरल नामक स्थान पर मनाया जाता है । श्री देवता महेश्वर अपने एक महीने की यात्रा के उपरान्त इस मेले की परम्परा को कायम रखने के लिए 26 भादों को उस स्थान पर आता है । हर वर्ष यानी अतीत की तरह विजय उत्सब मनाता है ।

इस तरह से कितने ही लोकगीत और आख्यान लिए कई गढ़ और किले इतिहासकारों की प्रतीक्षा में आज भी खड़े हैं ।

वर्मालॉज ऐरन विला
नियर स्नो व्यू , शिमला - 171003

लोकसभा में पहाड़ी भाषा की गूंज

§नियम 377 के अन्तर्गत लोकसभा में दिनांक 07-04-88 के दिन प्रो० नारायण चन्द पराशर, संसद सदस्य की मांग§

हिमाचल प्रदेश निवासी अपनी मातृभाषा पहाड़ी को संविधान की आठवीं सूची में सम्मिलित करने के लिए 1966 से ही लगातार मांग कर रहे हैं, जबकि हिमाचल निर्माता डॉ० यशवन्त सिंह परमार के नेतृत्व में पंजाब के पहाड़ी भाषी क्षेत्र हिमाचल प्रदेश में सम्मिलित किये गये थे। 2-10-72 से अपनी स्थापना दिन से ही हिमाचल कला, संस्कृति एवं भाषा अकादमी पहाड़ी भाषा और साहित्य, कला तथा संस्कृति की समृद्धि के लिए लगातार प्रयास कर रही है । इस अकादमी की स्थापना 30 सितम्बर, 1970 के दिन हिमाचल प्रदेश विधानसभा में पारित एक प्रस्ताव के आधार पर की गई थी । 100 से अधिक साहित्यकारों ने पहाड़ी साहित्य की समृद्धि में महत्वपूर्ण योगदान दिया है । इस समय श्री वीरभद्र सिंह, मुख्यमन्त्री, हिमाचल प्रदेश की अध्यक्षता में यह अकादमी पहाड़ी-हिन्दी शब्दकोष व्याकरण तथा पहाड़ी साहित्य के इतिहास के सम्पादन में संलग्न है ।

अनेक विद्वान एवं भाषा-शास्त्री इस भाषा को समृद्ध करने में संलग्न हैं । राज्य सरकार ने पहाड़ी साहित्य में उत्कृष्ट रचनाओं के लिए पहाड़ी आदि-कवि बाबा कांशी राम के नाम पर एक वार्षिक पुरस्कार भी जारी किया है । बाबा कांशी राम के सम्मान में तत्कालीन प्रधानमंत्री श्रीमती इन्दिरा गांधी ने 23 अप्रैल 1984 के दिन ज्वालामुखी में एक स्मारक डाक टिकट भी जारी किया था । पंजाबी भाषी पंजाब तथा हिन्दी भाषी हरियाणा से भिन्न होने तथा पहाड़ी भाषी होने के आधार पर बने हिमाचल प्रदेश के लोग अपने प्रान्त की स्थापना तथा उससे पहले 1891 से ही विभिन्न जनगणनाओं के अन्तर्गत पहाड़ी भाषा को अपनी मातृभाषा लिखवाते रहे हैं । प्रश्न संख्या 430, दिनांक 24-मार्च, 1988 के दिन लोकसभा में दिये गये उत्तर के आधार पर भारत सरकार पहाड़ी भाषा समेत उन सभी 34 भाषाओं की प्रोन्नति के लिए कृत-संकल्प हैं जिनमें से हरेक को 10 लाख से अधिक लोगं बोलते हैं ।

प्रो० पराशर ने भारत सरकार से अनुरोध किया कि वह पहाड़ी को अविलम्ब संविधान की 8वीं सूची में सम्मिलित करे तथा साहित्य अकादमी दिल्ली द्वारा भी इसे मान्यता दिलाने का प्रबन्ध करे ।

-:-

प्रदेश में केन्द्रीय विश्वविद्यालय की स्थापना तथा प्राचीन भाषाओं की प्रोन्नति का अनुरोध

गत दिनों लोकसभा में प्रो0 नारायण चन्द पराशर संसद सदस्य ने मानव संसाधन विकास मंत्रालय की मांगों पर बहस में भाग लेते हुए हिमाचल प्रदेश के लिए एक केन्द्रीय विश्वविद्यालय तथा एक क्षेत्रीय शिक्षा कालेज की स्थापना की पुरजोर मांग की ।

उन्होंने कहा कि केन्द्रीय विश्वविद्यालयों की स्थापना राष्ट्रीय हित को अनदेखी करके ऐतिहासिक आधार पर ही की जा रही है, फलस्वरूप किसी राज्य में तो अनेक केन्द्रीय विश्वविद्यालय खुल गये हैं और किसी में एक भी नहीं। उन्होंने कहा कि उत्तर पश्चिम भारत के अन्तर्गत आने वाले प्रान्तों जम्मू-काश्मीर, हिमाचल प्रदेश, पंजाब एवं हरियाणा में से किसी में एक भी केन्द्रीय विश्वविद्यालय नहीं खुल पाया है, क्योंकि केन्द्रीय विश्वविद्यालय शिक्षा के क्षेत्र में गति निर्धारक बन रहा है, अतः यह अत्यन्त आवश्यक है कि हिमाचल प्रदेश में एक केन्द्रीय विश्वविद्यालय खोला जाये ताकि वह समुचित उत्तर-पश्चिम भारत की आवश्यकताओं को पूरा कर सके । उन्होंने हिमाचल प्रदेश में एक क्षेत्रीय शिक्षा महाविद्यालय की स्थापना की भी मांग की ।

प्रो0 पराशर ने क्षेत्रीय भाषाओं एवं संस्कृत व पालि जैसी प्राचीन भाषाओं को प्रोन्नत करने के लिए विशेष आग्रह किया । उन्होंने कहा कि यद्यपि भारत में हिन्दी लोगों की संख्या 40 प्रतिशत से भी कम है तो भी हिन्दी को राष्ट्रीय सम्पर्क भाषा के रूप में प्रोत्साहन देना चाहिये परन्तु अंग्रेज़ी का महत्व किसी भी प्रकार से कम नहीं करना चाहिये क्योंकि यह संसार को समझने की कुंजी है । उन्होंने कहा कि हिमाचल प्रदेश में बोली जाने वाली पहाड़ी भाषा के विकास में साहित्य अकादमी तथा केन्द्रीय सरकार को सहायता देनी चाहिये तथा इसे स्वीकृत किया जाना चाहिये । उन्होंने कहा कि ऐसी सभी भाषायें जो देश में आज दस लाख से अधिक लोगों द्वारा बोली जाती हैं तथा जिनमें जनजाति भाषायें भी शामिल हैं सरकार द्वारा विशेष रूप से प्रोत्साहन के पात्र हैं । उन्होंने श्रीमती इन्दिरा गांधी के विचारों का उद्धरण दिया जिसमें उन्होंने क्षेत्रीय भाषाओं के स्वरूप तथा अस्तित्व की रक्षा पर बल दिया था तथा कहा था कि इसी प्रकार क्षेत्रीय संस्कृतियों की भी रक्षा की जानी चाहिये । इन्दिरा जी ने कहा था कि हमारा देश एक रंगीन चित्र के समान है जिसमें प्रत्येक रंग से चित्र की सुन्दरता में वृद्धि होती है परन्तु किसी भी रंग व आकृति का अस्तित्व एवं रूप लुप्त नहीं होता ।

प्रो0 पराशर ने कहा कि देश में 7 संस्कृति केन्द्रों की स्थापना एक

महत्वपूर्ण कदम है परन्तु उनके कार्यसंचालन में बहुत सुधार की आवश्यकता है। इन केन्द्रों के प्रमुख देश के प्रसिद्ध विद्वान अथावा सांस्कृतिक व्यक्तित्व होने चाहिये न कि राज्यपाल, क्योंकि पदवी की अपेक्षा प्रतिभा से इन केन्द्रों को अधिक लाभ होगा। राज्यपालों को तो इन कार्यों को देखने का समय भी नहीं होता। यदि इन सांस्कृतिक केन्द्रों के उद्देश्यों, जिनमें क्षेत्रीय भाषाओं, कलाओं, दस्तकारी एवं संस्कृतियों की प्रोन्नति, संरक्षण शामिल है-- को पूरा करना है तो इन संस्कृति केन्द्रों के अध्यक्ष स्थायी रूप से पूर्ण कालिक ही होने चाहिये न कि पदेन।

प्रो० पराशर ने राष्ट्रीय शैक्षणिक प्रशिक्षण एवं अनुन्सधान परिषद्, साहित्य अकादमी, केन्द्रीय भाषा संस्थान, मैसूर, संगीत, नाटक अकादमी तथा ललित कला अकादमी एंव भारत सरकार के संस्कृति विभाग के कार्यों की सराहना की, तथा उन्हें और अधिक धन देने की मांग की। उन्होंने राष्ट्रीय अनुवाद संस्थान तथा राष्ट्रीय अनुवाद ब्यूरो स्थापित करने की घोषणा का स्वागत किया तथा मांग की कि नई राष्ट्रीय शिक्षा नीति की भांति राष्ट्रीय भाषा विकास नीति भी बनायी जानी चाहिये। संस्कृति तथा शिक्षा को एक दूसरे से जोड़कर ही भारत की प्राचीन नैतिक, आध्यात्मिक तथा सांस्कृतिक धरोहर की रक्षा तथा प्रोन्नति की जा सकती है।

-:-

गतिविधियां

अकादमी की गतिविधियां अप्रैल,1988 से जुलाई,1988 तक

4 अप्रैल 1988 को धर्मशाला ज़िला कांगड़ा में {स्व0 श्री लालचन्द प्रार्थी की जयन्ती मनाई गई । जिसमें प्रातः 10 बजे लेखक गोष्ठी तथा सांय 7 बजे पहाड़ी कवि सम्मेलन का आयोजन किया गया ।

20अप्रैल 1988 को गेयटी थियेटर शिमला में अकादमी द्वारा संस्कृत सम्मेलन का आयोजन किया गया । इस सम्मेलन की अध्यक्षता आचार्य दिवाकर दत्त शर्मा जी ने की । यह सम्मेलन दो सत्रों में आयोजित किया गया । पहले सत्र में प्रातः 11बजे श्री पृथु राम शास्त्री ने हिमाचल में संस्कृत पत्रकारिता की सम्भावना और उपलब्धियां, तथा दूसरे सत्र में डॉ0 ओम प्रकाश सारस्वत ने 'हिमाचल में संस्कृत कविता एक विवेचन' विषय पर विषय पत्र प्रस्तुत किए इस सम्मेलन में अकादमी द्वारा एक संस्कृत पत्रिका प्रकाशित करने का निर्णय भी लिया गया ।

30 अप्रैल,1988 को शिमला के कालीवाड़ी हाल में श्री सिद्धार्थ संगम तथा हिमाचल कला, संस्कृति और भाषा अकादमी ने संयुक्त रूप से महात्मा बुद्ध की 2532 जयन्ती समारोह का आयोजन किया । इस सम्मेलन के मुख्य अतिथि राष्ट्रीय सम्यक बोधि संगम के प्रधान महागुरू नोरबू लामा थे । इस सम्मेलन की अध्यक्षता प्रो0 नारायण चन्द, पराशर संसद सदस्य एवं वरिष्ठ उपाध्यक्ष अकादमी ने की ।

'स्वैच्छिक संस्थाओं को सहायतानुदान योजना' के अन्तर्गत अप्रैल से जून 1988 के मध्य स्वैच्छिक संस्थाओं के लिये रूपये 91500/- स्वीकृत किये गये तथा उसमें से रूपये 22175/- प्रथम किश्त के रूप में उनको प्रदान किये जा चुके हैं ।

'गुरू/शिष्य प्रशिक्षण योजना' के अन्तर्गत गुरू द्वारा शिष्य को प्रशिक्षण देने के लिये श्री चैन राम शिष्य श्री कर्मदास को एक वर्ष तक लकड़ी के काम में प्रशिक्षण लेने के लिये 50/- रूपये महीने की राशि स्वीकृत की गई ।

-:-

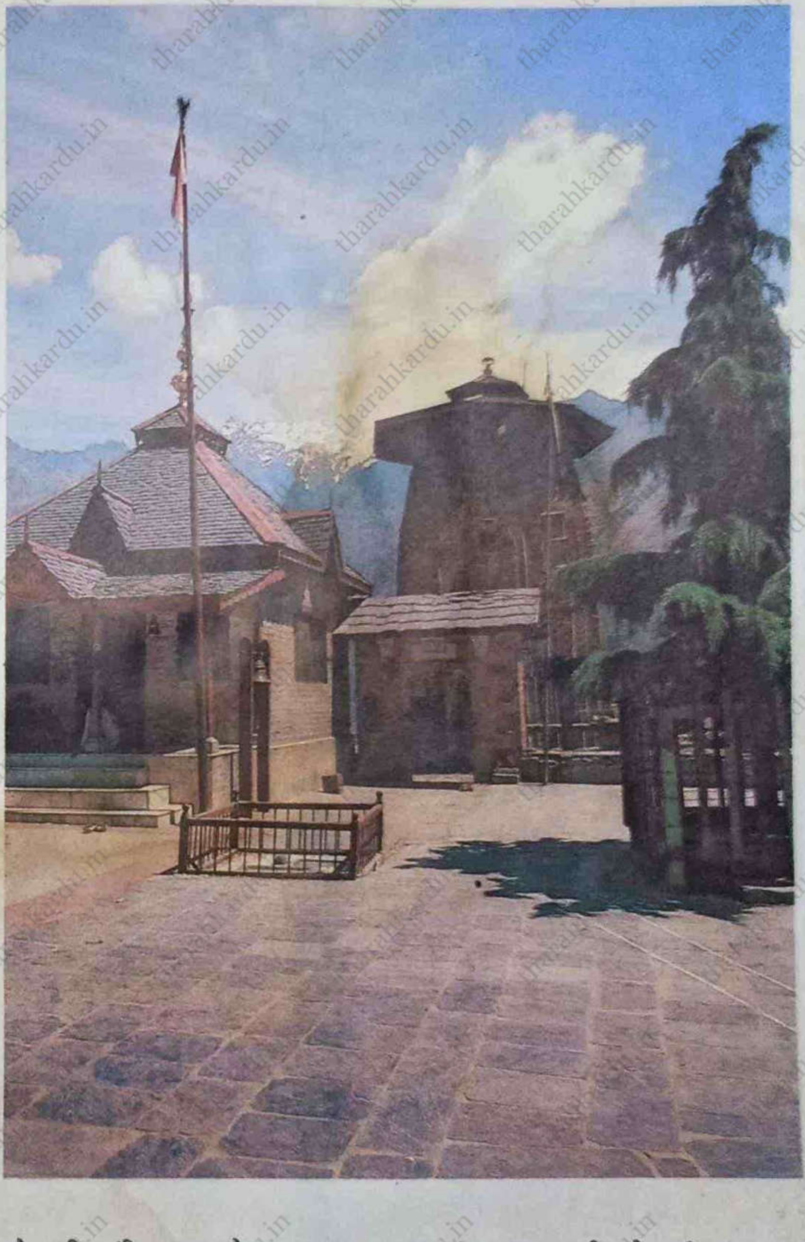

चौरासी मंदिर भरमौर, चम्बा – छाया: गगन स्टूडियो, शिमला

tharahkardu.in

HAACL पंजीकरण संख्या- 28271/75

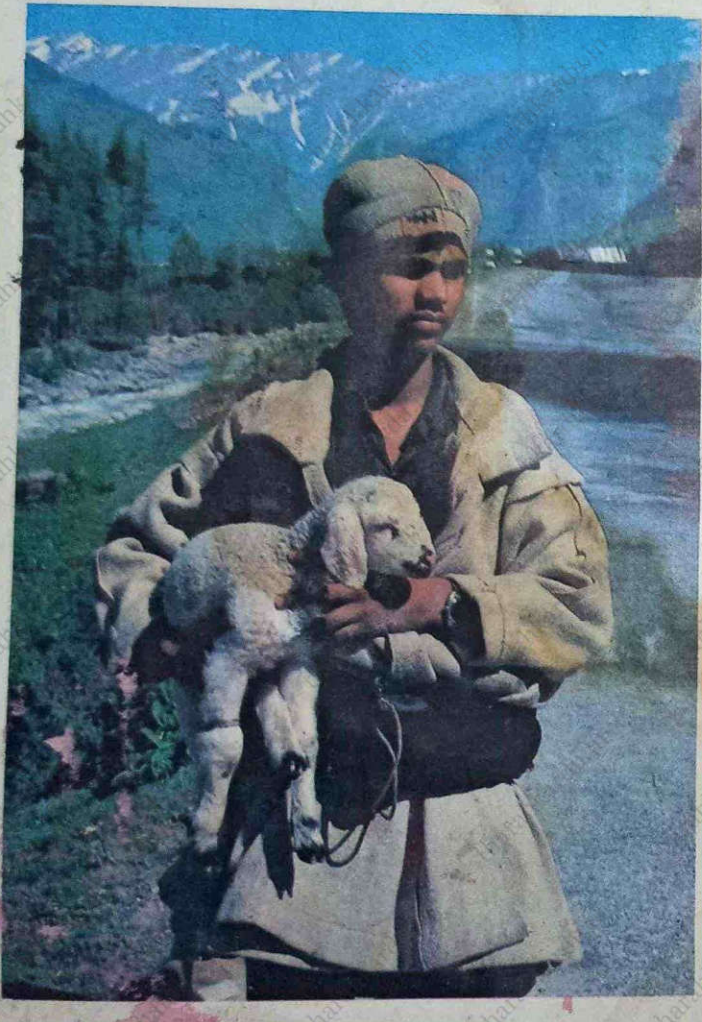

भेड़पालक गद्दी

छाया- गगन स्टूडियो, शिमला

सचिव हिमाचल कला, संस्कृति और भाषा अकादमी, शिमला द्वारा प्रकाशित तथा
प्रोग्रेसिव ऑफसेट प्रिन्टर्स, गगल, कांगड़ा फोन न·54 द्वारा मुद्रित